# सुमित्रानंदन पंत

◉

लेखक

डा० रामरतन भटनागर एम० ए०, डी० फ़िल्०

◉

प्रकाशक

युनिवर्सल प्रेस

१६, शिवचरनलाल रोड,

इलाहाबाद

मूल्य ३॥)

## कवि-बंदना

आज घिरे घन
तुमुल मेघ-गर्जन
तड़ित वज्र-ध्वनि !
अट्टहास करता-सा प्रलय-समीरण !
आज धरा पर
सतत नृत्यपर
महारुद्र के प्रलयंकर चरण !
लौहवर्ण रक्तिम प्रभात में लथपथ
बढ़ा आज उत्तर शताब्दि का जयरथ,
अखिल विश्व गा उठा महाभारत रे
सत्य अहिंसा तप कराहते आहत !
अणु-अश्वों के वज्र-खुरों के नीचे
पड़ी आज मानवता आँखें मीचे—
कितना छल, कितना कल्मष, कितने भ्रम,
सर्वनाश बन गया आज फिर मनुज का अहं !
हिंसा के शोणित में डूबे
उगे आज रवि,
किंतु तभी सुन पड़ा तुम्हारा
जाग्रत-स्वर, कवि !

लगी झूलने
युग-नयनों में
भावी की चिर मंगल-मुख छवि !
इस भीषण युग-संघर्षण में,
घृणा-द्वेष के इस प्रांगण में
गूँज उठी, कवि, मधुर तुम्हारी वाणी—
अखिल विश्व की शोभा-श्री भर,
शत-शताब्दियों का मृदु मर्मर,
जाग उठी जन-जन के उर में
मानवता की छवि कल्याणी !

अवचेतन के गुहागर्त में बद्ध-शृंखला
मानव की चेतना बने छवि-धौत निर्मला,
जीवन की चिर गहन रहस्य-चिंतना सुन्दर
भूत-ज्ञान से त्रस्त विश्व को बने आज वर !
एक अखंडित विश्व, एक हों इसके वासी,
मनः-लोक के अधिकारी वह स्वयं प्रकाशी;
बाहर-भीतर के द्वन्द्वों को जीत ऊर्ध्वतर
करे संचरण मानव का मन अखिल शोक हर;
जाति-वर्ण-राष्ट्रों-स्वार्थों से मुक्त, निरामय,
जीवन के प्रति जाग्रत, चिर निर्भर, चिर निर्भय !

बहिरांतर हो एक, ज्ञान-कर्म का समुच्चय,
नव मानवता बोल उठे नव मानव की जय !

हे जाग्रत कवि !
दिव्य तुम्हारी भावी की छवि !
मुखर तुम्हारा मगल पिक-स्वर
दे जग की अमराई को भर !
सपनों के तिनके चुन-चुन कर
नीड़ बनाये तुमने सुन्दर,
अपने ही आलोक - पुन्ज में
छिप अपने ही गीति-गुन्ज में,
जग की पीड़ा से पीड़ित मन
बुनते जीवन - पट मृदु मसृण
पहन जिन्हें भावी वे शिशुगण
खेलेंगे कल नव शोभा-तन
विश्व बनेगा नदन - कानन,
नव प्रकाश से मंडित भव-मन !
हे नूतन कवि !
तुम्हें धन्य हो यह मंगल-छवि !

वर्षारंभ, १६५१ ]

# अपनी बात

खड़ी बोली के आधुनिक कवियों में श्री सुमित्रानंदन पंत का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। प्रसाद, निराला और महादेवी के साथ वह छायावाद के प्रधान स्तंभ रहे हैं। 'सरस्वती' मे प्रकाशित उनकी प्रारम्भिक कविताओं ने ही हिन्दी के सुधी पाठकों और आलोचकों का ध्यान आकर्षित कर लिया था और उनके प्रशंसकों ने सदैव उनकी गतिविधि को सहानुभूति और गर्व से देखा है। 'पल्लव' को निराला ने हिंदी ससार का आठवां आश्चर्य ठीक ही कहा है। परन्तु 'पल्लव' के बाद कवि कविता की कल्पना-संगीत-स्वप्न-मंडित हाथी-दाँत की बनी स्वर्ण-खचित अट्टालिका से बाहर निकल आया है और उसने मानव के ऐहिक सुख-साधन और उसके मन-प्राण के ऊर्ध्व-संचरण का एक अनोखा मंगल-स्वप्न देखा है जो कदाचित् और भी चमत्कारक है। 'ज्योत्स्ना' में उसके कवि-व्यक्तित्व में जिस विस्फोट का आरम्भ हुआ था, वह उसके परवर्ती मार्क्सवादी काव्य मे विकसित होता हुआ आज मार्क्सवाद, गाँधीवाद, औपनैषदिक आत्मवाद, अवचेतनवाद और न जाने क्या-क्या समेट कर समन्वय और संश्लेषण के द्वारा मानव-मात्र के लिए एक नया सांस्कृतिक आयोजन उपस्थित कर रहा है। कवि का यह सपना जहाँ आधुनिक भारत के लिए महत्वपूर्ण है वहाँ एक व्यापक भू-वाद और भू-संस्कृति के क्षेत्र में भी उसकी संभावनाएँ कम नहीं है।

पन्त के कुछ प्रेमियों को उनके परवर्ती काव्य से असन्तोष है। उनका कहना है कि वे पैग़म्बर बन गये हैं और उनका परवर्ती काव्य तथ्य-प्रधान और विचार-मूलक बन गया है जिससे उनके काव्य-तत्त्व की हानि ही हुई है। वे 'गुन्जन' को कवि पन्त की सर्वश्रेष्ठ कृति कह उनकी परवर्ती रचनाओं से विदा ले लेते है। सम्भव है, उनकी मान्यताएँ किसी सीमा तक ठीक हों। उनके नये काव्य से कुछ असंतुष्ट होकर ही कदाचित् उनके सबसे बड़े

प्रशंसक निराला ने लिखा था—'एक बात कहता हूँ, हिन्दी में अपनी कल्पना-शक्ति के लिए ही आप बेजोड़ समझे जाते है और अपनी अपराजिता भाषा के लिए। इसी मौलिक सागर की ओर हिन्दी के नवयुवकों के हृदय के नदी-नद बहे हैं, वे आप मे कुछ हताश हो गये हैं। उन्हे इसी ओजस्विनी वाणी का कल्पनामृत पिलाइए। हिन्दी बड़ी ग़रीब है; कवि, कल्पना से बड़ा धन साहित्य में और नही।' इसमें सन्देह नही कि हिन्दी ने उनसे कालिदास की सौन्दर्य-दृष्टि और कलागत संयम और रवीन्द्रनाथ की कल्पना की नभचुम्बी उड़ानों और छंद एव संगीत की हिल्लोल-विल्लोलमयी सहस्र-सहस्र भंगिमाओं की आशा की थी। वह सपना अब टूट-सा गया है। इसमें संदेह नही कि परवर्ती काव्य में भी पंत की कवि-दृष्टि एकदम धुँधली नहीं पड़ी है और वह छोटे-छोटे इद्रधनुषो की सृष्टि कर सके है। ये छोटे-छोटे रूप भी महत्वपूर्ण हैं। रवि बाबू ने इन छोटे रूपों की प्रशसा में ही लिखा है—

**क्षुद्र रूप कोथा जाय बातासे उड़िया दुइ चार पलकेर पर ?**

परंतु विशुद्ध सौन्दर्य, संगीत और रूप-चित्रण के क्षेत्र मे जो हानि हुई है, उसकी पूर्ति क्या कवि की उस लोक - मंगल-भावना से' नही हो जाती जो समस्त जागतिक विषमताओ और असंतुलनो को लेकर एक नितांत अभिनव भू-स्वर्ग की रचना करना चाहती है। रवीन्द्रनाथ ने एक गीत में लिखा है कि उन्होंने महाकाव्य रचना चाहा परंतु वह उनकी प्रेयसी के कर-कंकण से टकरा कर चूर-चूर होकर सौ-सौ गीतों में बिखर गया। पत का भावी मानव का मंगल - स्वप्न कवि-गुरु की प्रेयसी के अनिंद्य सौन्दर्य से कम आकर्षक नहीं है और यदि इस सपने ने उन्हे काव्य-क्षेत्र से हटा कर चिंतन - क्षेत्र में आने के लिए विवश किया तो भी उनके प्रति उलाहने की विशेष गुंजाइश नहीं है। उन्होंने अपने युग की पुकार सुनी। इसी प्रकार के सधिकालो में गेटे, तुलसी, शेली और सरोजिनी जैसे सौन्दर्यप्राण कवियों को बार-बार लोकमंगल की पुकार सुनकर कल्पना के हिमशिखरों से नीचे उतर कर लोक-जीवन के समतल पर आना पड़ा है।

यह विस्फोट केवल पत के ही व्यक्तित्व में नही हुआ। और क्या इससे गेटे, तुलसी या शेली छोटे हो गये ?

पंतजी से मेरा पुराना परिचय है। तब वे लखनऊ में माडिल हाउस में रहते थे। उनका 'गुंजन' उन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ था और उसने हिन्दी प्रेमियो को काव्य-जगत के एक नये सौन्दर्य और प्रकृति और मानव-मन के एक नये मंगल-विधान कर परिचय दिया था। 'ज्योत्स्ना' उन्हीं दिनों की रचना है। बड़े परिश्रम से, बड़ी भावुकता से पंत ने इस सपने को कागज़ पर उतारा है। उनके भतीजे गिरीशचन्द्र पत (अनग) ने उनके कुछ गीतों और 'ज्योत्स्ना' की पांडुलिपि उन दिनों मुझे दिखलाई थी। उसमें एक-एक गीत कई-कई बार सँवारा-लिखा गया था। पंत भाषा और छदो के बड़े कलाकार हैं। उनके काव्य में उनका मनः-सौन्दर्य बड़े संयम, बड़ी कला-विदग्धता और बड़े परिश्रम से उतरा है। भावना में बह जाने वाले, छन्दो और कल्पनाओं की उन्मुक्त उड़ान को लेकर चलने वाले कवि वे नहीं हैं। परन्तु कदाचित् उनका मन अपने लिए एक नया मार्ग गढ़ रहा था। मानव की जिस मंगल-कामना से 'ज्योत्स्ना' ओतप्रोत है वह १९३३-३४ में बड़ी दूर की कौड़ी थी। कदाचित् इसीलिए 'ज्योत्स्ना' मे कवि का प्रयास स्पष्ट है और उसकी कलात्मक रूपरेखा भी यत्नज है। परन्तु बाद को कवि ने इस मानव-मंगलपथ पर सहज ही विचरण किया है। अनेक वादों और विचारधाराओं की कुज्झटिकाएं उसने सही हैं, भू-जीवन को आशा, उल्लास और प्रकाश स मडित उसने देखा है, मृत्य में अमृत्य का सकेत उसने पढ़ा है। आज उसकी वाणी नवभारत का स्वर्णाभिषेक कर रही है और 'ज्योत्स्ना' की अस्पष्ट परन्तु सुन्दर मङ्गल - भावना एक भूविराट सास्कृतिक योजना का रूप ग्रहण कर रही है। उसने अपने जीवन की उत्तर शती में प्रवेश किया है और हिन्दी उससे भू-मानव के लिए नये-नये स्वप्नों, गीतों और मङ्गलविधानों की आशा करती है।

रामरतन भटनागर

# संकेत

# १

# पंतः व्यक्तित्व और दृष्टिकोण

आधुनिक हिन्दी कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पंत कदाचित् सबसे अधिक लोकप्रिय रहे हैं। इसका कारण यह नहीं कि जनता से उनका संपर्क अधिक रहा है। वह स्वभाव से ही लज्जाशील रहे हैं और वह कवि-सम्मेलनो के अखाड़ो के कवि कभी नहीं रहे। अपने लगभग तीस वर्ष के कवि-जीवन मे उन्होंने अपने विरोधियो की एक भी पंक्ति का उत्तर नहीं दिया। इतना बड़ा संयम किसी भी अन्य कवि या कलाकार में मिल सकेगा, इसमे हमें सदेह है। वह निरंतर तटस्थ रहे और कदाचित् यही तटस्थता उनका सबसे बड़ा बल है। जो लोग उनसे दूर-दूर रहे, उन्हें भी उनकी कविता के माधुर्य और उनकी पक्तियों की संगीतात्मकता ने मोह लिया। जो उनके संपर्क में आये, वह उनके भावुक, लज्जालु, मितभाषी, सुन्दर और सुसंस्कृत व्यक्तित्व पर मुग्ध हो गये। 'वीणा' की बालिका की तरह ही उनका स्वर सदैव कोमल और नर्म रहा है। कविता-पाठ के समय भी यह कोमल स्वर वीणा की झंकार से ऊपर नहीं उठ पाया। अत्यंत उदात्त संस्कारों के साथ पंत ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया और उसमें आमूल क्रांति कर दी। भाषा, भाव, छंद और मूर्तिमत्ता के क्षेत्र में उन्होंने कल्पना और कला के सौ-सौ मार्ग खोले। आज हिन्दी के तरुण कवि उन्हीं मार्गों पर आगेबढ़ रहे हैं।

'घने, लहरे रेशम के बाल'। सौम्य मुखाकृति। पतले होंठ जो मन्द मुस्कान से अधिक नही खुलते। चम्पा-जैसा वर्ण। मँझौला क़द। बातचीत में और चालढाल में अभिजात्य। पंत अपनी कविता की ही तरह सुन्दर और आकर्षक है। उनके प्रति आदर-भाव सहज ही जाग्रत हो जाता है।

'निराला' जहाँ मूर्तिमान विद्रोह है, वहाँ पन्त मूर्तिमान विनम्रता। वह विरोध-पक्ष को भी पूरी शक्ति के साथ उपस्थित नहीं करते—विपक्षी के प्रति भी वह इतने उदार हैं। प्राचीन काव्य-शास्त्रों में कवि के व्यक्तित्व, जीवन-चर्या और रहन-सहन के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा है। आज वह सब उतना उपादेय नही है। परन्तु इसमें सदेह नहीं कि पन्त की एक अपनी युगव्यापी काव्य-साधना रही है और अपनी काव्य-साधना के अनुरूप ही उन्होंने अपना जीवन गढ़ने का प्रयत्न किया है। उनके काव्य मे व्यक्तिगत दुख-सुख के स्वर अधिक नही हैं, परन्तु यो उनका सारा काव्य ही उनके जीवन की प्रतिध्वनि है, परन्तु यह जीवन कवि का बाहर का जीवन नहीं है। वह उसके मन के सौन्दर्य-जगत, अतर्द्वन्द्व और बाह्य जीवन की प्रतिक्रिया का जीवन है। 'वीणा' में कवि का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्राभावित नहीं हो पाया है। इस संग्रह में उसका किशोर कठ ही फूट सका है। 'ग्रंथि' इस किशोर कवि के प्रेम, मिलन और वियोग की कहानी है। 'पल्लव', 'ज्योत्स्ना' और अन्य सग्रहो की कुछ कविताओ मे कवि सौन्दर्यनिष्ठ है। वह प्रकृति और नारी के अनेक रूपों-रंगो में खो गया है। अतर्जगत के भाव और द्वन्द भी उसे आकर्षित करने लगे हैं। 'ज्योत्स्ना' गुंजन और 'युगांत' मे उसने अपने सारी पिछली अनुभूति के आधार पर एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के निर्माण की चेष्टा की है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उसने पहली बार बाहर के जगत पर दृष्टिक्षेप किया और युग की विषमताओं को पहचाना। संसार में दुख और उत्पीड़न का भी अस्तित्व है और उसकी ओर से आँखे बन्द कर प्रेम, सौन्दर्य और मंगलाशा के गीत गाये जाना बहुत बड़ा छल है, यह उसने जाना। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि' और 'उत्तरा' में कवि मार्क्सवाद और गाँधीवाद के संघर्ष से ऊपर उठकर नए जीवन और नई संस्कृति की रूप-रेखाएँ गढ़ने में सफल हुआ है। अभी वह इस दिशा में सक्रिय और प्रयत्न-शील है। —भविष्य उसके द्वारा हिन्दी को बहुत कुछ ऐसा देगा जिसके लिए हमें गर्व होगा।

आधुनिक काव्य में इतिहास में पन्त की कविता एक बड़े चमत्कार के रूप में उपस्थित होती है। द्विवेदी युग की जड़, उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक कविताओं के विरोध में उन्होंने जिस, खुली-मुँदी, रहस्यात्मक, कलापूर्ण लाक्षणिक कविताओं का श्री गणेश किया वह पिछली काव्य-परंपरा से इतनी भिन्न, इतनी अलग, इतनी आगे थी कि आज हम उनके महत्व को पूरा-पूरा समझ भी नहीं पाते। इन कविताओं का ऐतिहासिक महत्व महान् है क्योंकि इन्हीं के द्वारा काव्य की प्रचलित परिपाटी के विरुद्ध विद्रोह और नवीन काव्य की रूपरेखा प्रकाशित हुई। इस विद्रोह के कई रूप थे :

( १ ) रीति-कालीन श्रृंगार के प्रति विद्रोह :

'श्रृंगार-प्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया। उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अंग-प्रत्यंग में लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था-पर्यंत जब तक कोई 'चन्द्रबदनि मृगलोचनी' तरस खाकर उन्होंने बाबा न कह दे—उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से लेकर शिख तक, दक्षिण ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक यात्रा कर सकी! ऐसी विश्वव्यापी अनुभूति! इसी विराट रूप का दर्शन कर ये पुष्प-धनुर्धर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के बीभत्स समुद्र को मथ कर इन्होंने कामदेव को नवजन्म-दान दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है?''

(२) रीति-काव्य के वाह्य रूप के प्रति विद्रोह :

'भाव और भाषा का ऐसा शुक प्रयोग, राग और छंदो की ऐसी एक स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षा की ऐसी दादुर-वृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रांत उपल वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है?

(३) खड़ी बोली को नए प्रकार से नए संस्कारो में गढ़ने का प्रयोग

(क) शब्दों के रागात्मक रूप और नादात्मक सौन्दर्य को खोजने की चेष्टा :

'भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपो को प्रगट करते हैं । जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है' आदि —

(ख) चित्रमय भाषा के लिए आग्रह :

'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव-संगीत विद्युतधारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके' ।

(स) भाव और भाषा के सामंजस्य का प्रयत्न :

'भाव और भाषा का सामजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्रण है । जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गए हों, निर्झरणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों

(घ) अलंकारों का विशेष प्रयोग :

'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार हैं । कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छंदों के सम्मिश्रण और सामंजस्य विशेष भाव को अभिव्यक्त करने में सहायता मिलती है ।'

(८) छंद के क्षेत्र में नये प्रयोग

(क) संस्कृत के वार्णिक छंदो की उपेक्षा :

"संस्कृत का संगीत जिस प्रकार हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नही । हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छंद ही में

अपना स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता है। वर्ण-वृत्तों की लहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य...खो बैठती...।"

(ख) सवैया और कवित्त की उपेक्षा :

"सवैया तथा कवित्त छंद मुझे हिन्दी की कविता के लिये अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते।"

(ग) तुकके प्रति मोहः

"तुक राग का हृदय है"

यह स्पष्ट है कि पंत की इस क्रांति का आधार कलावाद था। वह काव्य को जहाँ एक ओर कवित्त-सवैयों की रीतिकालीन जड़ बेड़ियों से मुक्त कर देना चाहते थे, वहाँ द्विवेदीयुग की वार्णिक कविताओं को भी वे प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखते। मात्रिक छंद के ही कला-पूर्ण प्रयोग की ओर उनका आग्रह है। भाव (शैली), भाषा और मूर्तिमत्ता (अलंकार) के क्षेत्र में वे एकदम कलावादी हैं। भावों (शैलियों) की विशिष्टता, भाषा का लाक्षणिक, नादात्मक और चित्रमय प्रयोग और अलंकारों द्वारा भावाभिव्यक्ति पंत की कविता की नितांत नई चीज़ थी। इन्होंने हिन्दी कविता का रूप ही बदल दिया। वास्तव में कलाकाल (रीतिकाल) को छोड़ कर कला का इतना आग्रह हिन्दी के किसी काल की कविता में नहीं मिलता। आधुनिक कविता में कला की पुकार 'पंत' की कविताओं से ही शुरू हुई।

परन्तु यह बात नहीं कि पंत ने केवल कविता के बाह्य रूप का ही परिवर्तन किया। इतनी क्रांति भी बहुत थी और उन्हें उसका श्रेय मिलना चाहिये था। परन्तु वे और भी आगे गये। उन्होंने कविता के अंतरंग में भी क्रांति उपस्थित की। इस संबन्ध में उन्होंने स्वयं बहुत कुछ लिखा है :

१—कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक

देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना के तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखे मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्य पट-चुपचाप, मेरी आँखो के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज मे दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल कूर्माचल की छायांकित पर्वतश्रेणियाँ जो अपने शिखरो पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाये हुये है, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य मे डुबा कर कुछ काल के लिए भुला सकती है। और शायद पर्वत प्रांत के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत की तरह, निश्चय रूप से अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से मैं अब भी दूर भागता हूँ, और मेरे आलोचको का यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने मे लजाती है।

२—दर्शनशास्त्र और उपनिषदो के अध्ययन ने मेरे रागतत्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ है। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, बसंत के कुसुमित अवरण के भीतर पतझर का अस्थि-पिंजर।

३—किंतु दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार से जहाँ जीवन के नाम-रूप-गुण के छिलके उतारकर मन को शून्य की परिधि में भटकाता है, वहाँ वह छिलके में रस की तरह व्याप्त एक ऐसे सूक्ष्म संश्लेषात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनन्द से मुग्ध और विस्मित कर देती है। भारतीय

दर्शन में मेरे मन को अस्थिर वस्तु-जगत से हटाकर अधिक चिरंतन भाव-जगत में स्थापित कर दिया।

४—व्यक्तिगत सुख-दुख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है।

५—बाद की रचनाओं में मेरे हृदय का आकर्षण मानव-जगत की ओर अधिक प्रगट होता है।

६—"छायावाद" के पास भविष्य के लिए उपयोग नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्य-बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था और उसका भाव-शरीर द्विवेदी युग के काव्य की परंपरागत सामाजिकता से पृथक हो गया था। किंतु वह नवयुग की सामाजिकता और विचार-धारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमे व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्न-वस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'हास-अश्रु-आशाकांक्षा' 'खाद्य मधु-पानी' नहीं बन सके थे। इसलिए वह एक ओर निगूढ़, रहस्यात्मक, भाव - प्रधान (सब-जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनिकल और आवरण मात्र रह गया। दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले हिन्दी कविता छायावाद के रूप में, इस युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं-सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी, और व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तो के आधार पर, भीतर-बाहर में, सुख-दुःख

मे, आशा-निराशा, संयोग वियोग के द्वन्दो में सामाजिकता स्थापित करनी पड़ी।

७. 'पल्लव' काल मे मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज़ी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्डसवर्थ, कीट्स और टेनीसन से विशेषरूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्य - बोध और मध्य वर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। रवि-बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीनयुग की, सौन्दर्य-कल्पना में ही परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का स्लोगन रहा है। इस प्रकार मैं रवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करती हूँ। और यदि लिखना एक Unconcious-Concious Process है तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियो का यत्र तत्र उपयोग भी किया है और उसे अपने विकास का अंग बनाने की चेष्टा की है।

८. छायावादी कवियों पर अतृप्त वासना का लांछन मध्यवर्गीय (बूर्ज्वा) मनोविज्ञान ( डेप्थ साइकालोजी ) के दृष्टिकोण से नही लगाया जा सकता। भारत के मध्ययुग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूकवेदना को जन्म देना रहा है, जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एवं सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए है। संसार के सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामंत युग की नैतिकता से पीड़ित हैं। हमारी क्षुधा ( संपत्ति ) काम ( स्त्री ) के लिए अभी नही बनी है।

९. अपनी सभी रचनाओं मे मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।

ऊपर जो कहा गया है उससे पत के काव्य की प्रवृतियों का निरूपण भली भाँति हो जाता है। ये प्रवृतियाँ हैं:—

१ पाश्चात्य साहित्य और बगला काव्य का प्रभाव।

२ प्रकृति की ओर स्वाभाविक और रहस्यमय आकर्षण।

३ दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन का प्रभाव ।

४ व्यक्तिगत सुख-दुःख से ऊपर उठने की चेष्टा ।

५ कल्पना-क्षमता ।

बाद की कविताओं मे कवि ने अपनी सहानुभूति के क्षेत्र का विस्तार किया है । यह सारा मानव-जगत ही काव्यभूमि बन जाता है । छायावाद में सौन्दर्य-बोध और कल्पना की प्रधानता थी । सामयिक जीवन की समस्याओं से वह भागता था । उसमें सामाजिकता का नितांत अभाव था । दुःखवाद और पीड़ावाद का आधार औपनिषदिक जीवन-दर्शन था । व्यक्तिगत दुःख-सुख के स्वर उसमें उतने तीव्र नहीं हैं । व्यक्ति के स्वच्छद विकास के क्षेत्र में जो अनेक सामाजिक और धार्मिक बाधाये थीं उनकी ओर छायावादी कवि ने संकेत भी नहीं किया था । पंत जैसे भावुक और सूक्ष्मदर्शी कवि से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह केवल सौन्दर्य-चित्रों और दार्शनिक उलझनो मे फँसा रह जायगा । इसी से 'गुंजन' के बाद जब हम कवि को सामान्य मानव-जीवन के दैनिक सत्यों की ओर बढ़ते पाते है तब हमे कोई आश्चर्य नही होता । इन मानव जीवन के दैनिक सत्यो, सघर्षों और हार-जीतो को वाणी देने के लिए पंत को नई भाषा-शैली गढ़नी पड़ी । 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का बल यही नई वाणी है । जहां 'पल्लव' में कवि भाषा-शैली की गूढ़ता, सघनता और कल्पनातिरेक के अनेक प्रयोग करता है, वहां इन नई कविताओ में वह एकदम आकाश की तरह स्पष्ट और निरालंकार है । जहां कवि की प्रारभिक कविताएं भावुकता से ओतप्रोत है, वहाँ 'युगवाणी' और बाद की रचनाओ मे बुद्धितत्त्व की प्रधानता है । 'पल्लव' में वह कहता है —

न पत्रों का मर्मर संगीत,<br>
न पुष्पों का रस, राग, पराग;<br>
एक अस्फुट, अस्पष्ट, अगीत,<br>
सुप्ति की ये स्वप्निल मुस्कान;

सरल शिशुओं के शुचि अनुराग,
वन्य विहगों के गान ।
हृदय के प्रणय कुंज के लीन,
मूक कोकिल का मादक गान ।
बहा जब तन-मन बन्धन हीन,
मधुरता से अपनी अनजान ।
खिल उठी रोओं-सी तत्काल,
पल्लवों की यह पुलकित प्रात ।

वहाँ 'ग्राम्या' में अपनी 'वाणी' को संबोधन करता हुआ वह कहता है—

तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !
भव कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलंबित,
तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सूदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलङ्कार !

इन नई कविताओं में भाषा और शैली की ही नवीनता नहीं है । कवि जीवन में नये तत्वों को खोलता हुआ आगे बढ़ता है । मार्क्सवाद, गांधीवाद और ऋषि अरविंद के अध्यात्म-वाद पर उसकी आस्था हो जाती है । उसकी कला अब केवल कला के लिए नहीं जीती । वह मानव-जीवन के लोकोत्तर संगीत को प्रगट करना चाहती है । वह 'छायावाद' और 'प्रगतिवाद' से आगे बढ़कर एक नए अध्यात्मावाद की ओर बढ़ रही है । दो वर्ष हुए (१ जनवरी १६४८), प्रयाग की 'गुंजन' नाम की साहित्यिक संस्था में कवि ने अपने नए दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए कहा था; "हमारा युग मुख्यतः

राजनीतिक और आर्थिक हलचलों का युग है। आज हम मनुष्य-जीवन की बाहरी गतियों का विश्वव्यापी संगठन करने में संलग्न है। इन बाहरी गतियों का सम्बन्ध हमारे जीवन की आवश्यकताओं से है। और यह बहुत जरूरी है कि हमारे सामाजिक जीवन का धरातल इतना उठ जाय कि मनुष्य अन्न और वस्त्र की चिंता से मुक्त हो जाय और हमें सभ्यता की विरोधी शक्तियो से संरक्षण मिल सके। जीवन की इन वाह्य गतियो के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। इनके मनोविज्ञान को प्राणि-शास्त्रीय मनोविज्ञान कहते हैं और साहित्य में हम इन विचार-धाराओ से प्रगतिवाद के नाम से परिचित है। किन्तु अगर हम सोचते है कि मानव-जीवन की बाहरी गतियो के संगठन से ससार मे सुखशाति और समृद्धि की स्थापना हो सकती है तो शायद हम भूल करते हैं। हमें मनुष्यों के अंतर्जीवन का भी इस युग में नवीन रूप से संगठन करना है। इस अंतर्जीवन के सत्य को मैं सस्कृति कहता हूँ। इसके दर्शन को आप चाहे तो अध्यात्मवाद कह सकते है।

इस युग मे भिन्न २ देशों और जातियों के लोग एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आ रहे हैं। उनके धार्मिक विश्वास, नैतिक धारणाएँ और व्यावहारिक दृष्टिकोण आपस मे टकरा कर मनुष्य के मनोजगत मे सघर्ष पैदा कर रहे हैं। हमारे पिछले युगो के मानसिक संगठन धीरे धीरे बिखर रहे हैं हमारे जीवन-मान अपर्याप्त प्रमाणित हो रहे हैं।

ऐसी दशा में हम लोगों के लिए जो कि साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र काम कर रहे हैं—यह अत्यंत आवश्यक है कि मनुष्य की चेतना को पिछले युगों की सस्कृतियों के विरोधो से मुक्त कर उसे ऊर्ध्व, गम्भीर तथा व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकें। हम स्वयं साम्प्रदायिक भावनाओं से, एकदेशीय और एकजातीय मन से मुक्त हो सकें और हम मानव-जीवन के बहिरंतर सत्यों का विराट् समन्वय कर युग को परिस्थितियों के अनुरूप उनको नवीन मानसिक और व्यावहारिक रूप दे सके।

इस दृष्टिकोण को सामने रखकर हम जिस साहित्य का सृजन करेंगे मुझे विश्वास है वह अवश्य लोकोपयोगी साहित्य प्रमाणित होगा और उसके स्रष्टा युग के स्रष्टा बन सकेंगे।

'आज संसार को केवल राजनीतिक और आंदोलनों की ही ज़रूरत नहीं है। उसे एक पृथ्वीव्यापी विराट् सांस्कृतिक आन्दोलन की भी ज़रूरत है। जिस प्रकार हमारे मध्ययुग के दार्शनिकों ने अंतर्जीवन के सत्य पर ही एक मात्र जोर देकर वहिर्जीवन के सत्य की उपेक्षा की और उसे मायामिथ्या कहकर उड़ा दिया, ठीक उसी का उल्टा हमारे इस युग में वैज्ञानिक कर रहा है। वह अंर्तजगत् को नगण्य मानकर भौतिक जगत के सत्य पर ही एकमात्र दृष्टि गड़ाये हुये है। इस प्रकार से एकांगी दृष्टिकोण का फल चाहे और जो कुछ भी हो वह मानव-समाज और उसकी सभ्यता के विकास के लिए हितकर नहीं हो सकता।

'इसलिए हमारे साहित्य-स्रष्टाओं के लिए यह और भी आवश्यक है कि वह अंत दृष्टि, ज्ञान और वहिर्नियम विज्ञान के सत्यों में संतुलन पैदा करें। आनेवाली मनुष्यता को एक संतुलित सांस्कृतिक चेतना में बाँधे और मनुष्य सभ्यता को एकांगी वादों के दुष्परिणामों से बचाकर उसे सत्य शिव सुन्दर की ओर ले जायें, उसे शांति, प्रेम और अमरता का प्रकाश दिखाये।

आध्यात्मिकता और भौतिकता केवल दो किनारों की तरह है जिनके बीचमें मानव-जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित है। इसी सजीव, स्पंदित रसमय और मंगलमय मानवजीवन में सत्य का वितरण करना हम साहित्यिकों का कर्त्तव्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पल्लव' से लेकर नई कविताओं तक पंत की काव्यकला और काव्य - विषयक धारणाओं में महान् अंतर हो गया है। 'पल्लव' का कवि काव्य के विषय की बात नहीं उठाता। उसके काव्य-विषय वही हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक कवियों के थे। प्रकृति, नारी,

प्रेम, सौन्दर्य मानसिक प्रवृतियाँ और प्रकृति के पीछे छिपा रहस्य-मत इंगित—यही उनके विषय हैं। हिन्दी कविता के लिए ये विषय नितांत नवीन नहीं थे। कम से कम प्रकृति-चित्रण यथेष्ट मात्रा में हो चुका था परन्तु उसमें न कला के दर्शन हो सकते थे, न उदात्त भावना के न किसी रहस्यमयता का केवल वर्णन, केवल इतिवृत्त, केवल वस्तु-नाम-परिगणन को काव्य कहा गया था। पंत की प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में उनकी अपनी गहरी अनुभूति थी, उनका अपना पर्यानुवेषण था, अपनी कल्पना थी। इसीसे उनके प्रकृतिचित्र पाठकों को एकदम नये लगे। बात जानी पहचानी है, परन्तु कला के हाथों प्रकृति को सँवार कर इस तरह किसने रखा था? कवि कहता है—

देखता हूँ जब, उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर!
नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता—सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।"

बादलों के विविध रूपों की इतनी सुन्दर सहृदयता-पूर्ण कल्पनाएँ किस कवि ने की थीं—

कभी चौकड़ी भरते मृग से;
भू पर चरण नहीं धरते।

मत्त मतङ्गज कभी झूमते,
सजग-शशक नभ को चरते,

कभी कीश से अनिल-डाल में
नीरवता से मुँह भरते,
वृहद् गृद्ध से विहग-छदों को,
बिखराते नभ में तरते।

कभी अचानक, भूतों का-सा,
प्रकटा विकट महा-आकार,
कड़क-कड़क जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;

फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद्र पैरते शुचि-ज्योत्सना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार!

परन्तु इन प्रारम्भिक कविताओं में केवल प्रकृति का विलास ही नहीं था, प्रेम का बड़ा भावुक वर्णन भी था। द्विवेदी युग में प्रेम, मिलन, विरह इत्यादि विषयों पर कुछ भी नहीं लिखा गया। यह वर्जित प्रदेश था। पंत की कविता में पहली बार प्रेमी का अश्रु-गद्‌गद् कंठ फूट पड़ा। 'ग्रंथि' उच्छ्वास और 'आँसू' ने हिन्दी प्रेमकाव्य में एक नितांत नई शृंखला जोड़ी। उन्होंने स्पष्ट कहा—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उमजा होगा गान;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान!

नेका एक-एक शब्द अनुभूति से भरा हुआ जान पड़ा। सहृदय पाठक
ः भावुकता की बाढ़ में बह गया। यहाँ उसे पहली बार प्रेमी का उन्मुक्त
हृण-निवेदन मिला—शास्त्रीय पद्धतियों की सीमा को लाँघ जहाँ हृदय का
दन हृदय के स्पंदन को पहचानने लगता है। कवि ने कहा था—

**आह, यह मेरा गीला गान!**
**वर्ण-वर्ण है उर की कंपन,**
**शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,**
**चरण-चरण है आह,**
**कथा है कण-कण करुण अथाह;**
**बूँद में है बाड़व का दाह,**

ीति—काल के नख-शिख वर्णन के सम्मुख पंत का यह चित्र रखिये—
ह स्पष्ट हो जायगा कि कवि ने कितनी बड़ी क्रांति की है — उसने प्रेम
ो वासना के गहरे गह्वर से बाहर निकाल कर हृदय के सिंहासन पर
ठाया है:

**तुम्हारे छूने में था प्राण,**
**संग में पावन गंगा-स्नान;**
**तुम्हारी वाणी में कल्याणि!**
**त्रिवेणी की लहरों का गान!**

**अपरिचित चितवन में था प्रात,**
**सुधामय साँसों में उपचार;**
**तुम्हारी छाया में आधार,**
**सुखद चेष्टाओं में आभार!**

**करुण भौंहों में था आकाश,**
**हास में शैशव का संसार;**
**तुम्हारी आँखों में कर वास**
**प्रेम ने पाया था आकार!**

कपोलों में उर के मृदु भाव,
श्रवण-नयनों में प्रिय-बर्ताव;
सरल संकेतों में संकोच;
मृदुल अधरों में मधुर दुराव!

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों मे बच्चों के साँस!

बिन्दु में थीं तुम सिंधु अनंत,
एक सुर में समस्त संगीत;
एक कलिका में अखिल बसंत,
धरा में थीं तुम स्वर्ग पुनीत!

वास्तव में यहाँ नारी के प्रति दृष्टि-कोण ही बदला हुआ था। जहाँ रीतिकाल की शृंगार भावना देह की सुन्दरता पर आश्रित थी और कवि-प्रसिद्धियों, उपमाओं और रूपकों का परंपरागत निर्वाह करती हुई चलती थी, वहाँ पंत की नारी में देहभावना बहुत ही कम थी, वह 'देवि, मा, सहचरि, प्राण' मात्र थी। मतिराम का यह सवैया देखिये—

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहे मुसुकानि-मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकसी निकाई॥

फिर पंत की ये पंक्तियां पढ़िए—

स्नेहमयि! सुन्दरतामयि!
तुम्हारे रोम-रोम से नारि!

मुझे है स्नेह अपार;
तुम्हारा मृदु-उर ही सुकुमारि!
मुझे है स्वर्गागार!
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता, ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति, पूजन - सम्मान;
अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की संधान।

अंतर स्पष्ट हो जाता है। यह देह और आत्मा का अंतर है। जहाँ एक ओर नारी वासना की वस्तु और दूसरी ओर उपेक्षा —संतकाव्य जैसी घृणा चाहे नहीं सही—की वस्तु मानी गई थी, वहाँ पंत ने नारी को अत्यन्त उदात्त, अत्यन्त उज्ज्वल, अत्यन्त पवित्र रूप में देखा। नारी के प्रति इस नये दृष्टिकोण ने आधुनिक कविता को सब से बड़ी शक्ति दी है।

एक नितांत नया क्षेत्र भी पंत की इस प्रारंम्भिक कविता ने हिन्दी काव्य जगत के सामने उपस्थित किया था। यह है मानस का चित्रण। शेली, कीटस और वर्डस्वर्थ मानस के स्वप्नों, हलचलों और प्रवृत्तियों को काव्य का स्पंदन बना चुके थे। पंत ने कदाचित् इशारा वहीं से लिया था, परन्तु उन्होंने अपनी कल्पना के बल पर जो सृष्टि की, वह अद्‌भुत थी। स्वप्न की विवेचना करता हुआ कवि जिज्ञासा करता है—

किन इच्छाओं के पाँखों में
उड़ उड़ ये आँखें अनजान
मधु बालों-सी, छाया-बन की
कलियों का मधु करतीं पान?

मानस की फेनिल लहरों पर
किस छवि की किरणें अज्ञात
रजत-स्वर्ण में लिखतीं अविदित
तारक लोकों को शुचि-बात;

किन जन्मों की चिर संचित सुधि
बजा सुप्त तंत्री के तार
नयन-नलिन में बंधी मधुप-सी
करती मर्म-मधुर गुंजार !

पलक-यवनिका के भीतर छिप
हृदय-मंच पर छा छविमय,
सजनि ! अलस के मायावी शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय !

मीलित नयनों का अपना ही
यह कैसा छायामय-लोक,
अपने ही सुख-दुख, इच्छाएँ,
अपनी ही छवि का आलोक !

परन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, सबसे बड़ी क्रांति छंद, मूर्तिमत्ता और भाषा के क्षेत्रों में थी। बीसवीं शताब्दी के पहले १५-२० वर्ष इन क्षेत्रों में प्रयोग करने में ही बीते। खड़ी बोली शुद्ध और व्याकरण सम्मत रूप में प्रयोग में आए—द्विवेदी युग के कवियों का लक्ष्य केवल इतना ही था। मैथिलीशरण गुप्त की भाषा-शैली उस समय काव्य-क्षेत्र की आदर्श भाषा-शैली थी। किसान की पंक्तियां उस समय सरल काव्योपम भाषा-शैली का आदर्श थीं—

**ऊपर नील वितान तना था, नीचे था मैदान हरा,**
**शून्य मार्ग से विमल वायु का आना था उल्लास भरा;**
**कभी दौड़ने लग जाते हम, रह जाते फिर मुग्ध खड़े,**
**उड़ने की इच्छा होती थी उड़ते देख विहंग बड़े।**

इस आदर्श भाषा के सामने 'पल्लव' का भाषा का कला-विलास चकित कर देने की सामर्थ्य रखता है। 'पल्लव' की भूमिका का एक बहुत बड़ा भाग भाषा, छंद और शैली से सम्बन्धित है। ये काव्य के वाह्यांग हैं। परन्तु जिस समय 'पल्लव' प्रकाशित हुआ उस समय इन क्षेत्रों में आमूल क्रांति की आवश्यकता थी। कविता को केवल मात्र लय, तुकांत गद्य से ऊपर उठाना था। पंत ने अत्यन्त साहस से कहा—"भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सांत को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनिलोक निवासी शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का संबन्ध स्थापित करता है"। "प्रत्येक शब्द एक एक कविता है"। "भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः. संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं"। "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।" "भाव और भाषा का सामञ्जस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो..." "जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटुसमुदाय' ही, दादुरों की तरह, फुदकते तथा ग्रामध्वनि करते सुनाई देते हैं। ब्रज-भाषा के अलंकृत-काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा

अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता।" "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। ... वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।" "जिसप्रकार संगीत के सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्च्छनायें केवल राग की अभिव्यक्ति के लिये होती हैं, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रगट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलकारों, लक्षणा-व्यजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छदो के सम्मिश्रण और सामजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने मे सहायता मिलती है।"

'कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्रता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते है; तब अभिन्न-भिन्न आकारों में कटी-छँटी शब्दों की शिलाओ का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी संधियाँ एकाकार हो जाती हैं; उनका अपना रूप भाव के बृहद स्वरूप में बदल जाता"। छंदों के सबन्ध में भी पंत के विचार कम क्रांतिकारी नहीं हैं। वह कहते हैं—"ब्रजभाषा के अलंकृत काल में संगीत के आदर्श का जो अधःपात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छंदों का चुनाव भी है। कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ट सबन्ध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत हैं; छंद हृत्कंपन, कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छद भी अपने नियत्रण से राग को स्पंदन-कंपन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दो के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं।" "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छंद

ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है।" "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छंदों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है"। "बंगला के छंद भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक् वाहन नहीं हो सकते"। "सवैया तथा कवित्त छंद भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जा पड़ते"। "हिन्दी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल, तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है; दोनों में अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता और विशेषता है।"

कविता में तुकांत के महत्व के संबन्ध में पंत पूर्णतयः आश्वस्त हैं। —"जिस प्रकार अपने आरोह-आरोह में राग वादी स्वर पर बार-बार ठहर कर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक भी पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है ..., परंतु अन्त्यानुप्रास-हीन काव्य के वे विरोधी नहीं हैं। वह कहते हैं—"हिन्दी में रोला छंद अंत्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है।" उनके अनुसार छंद जड कला-मात्र नहीं, वह जीवित—स्पन्दित वस्तु है। सब भावों और रसो के विकास के लिए सब प्रकार के छन्द नहीं चल सकते। भिन्न भिन्न छन्दो की भिन्न भिन्न गति होती है और तदनुसार वे रसविशेष की सृष्टि करने में सहायता करते हैं। उन्होंने मालिनी, पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, प्लवङ्गम्, हरिगीतिका, राधिका, अरिल्ल छन्दों की विशेष विशेष रसोपयोगिता का विश्लेषण किया है। सच तो यह है कि इस सबन्ध मे वैज्ञानिक ढग से काम होने की आवश्यकता है। रसानुकूल छन्दों का प्रयोग काव्य की सब से बड़ी आवश्यकता है। पंत

ने पहली बार इस आवश्यकता को समझा और उसके अनुसार अपनी कविता को एक निश्चित रूप दिया।

यह स्पष्ट है कि 'पल्लव' में पंत का काव्य के वाह्यांगो में क्रांति करने की ओर ही अधिक ध्यान है। यह उनके युग की आवश्यकता थी। वाह्यांगों को उन्होंने अपने ढग पर पुष्ट कर उन्हे अत्यन्त कलात्मक रूप दिया। भाषा का गौरव देखिये। कवि 'परिवर्तन' से संबोधित है:

तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्याहङ्कार;
तुम्हीं में निराकार साकार,
मृत्युजीवन सब एकाकार!

अहे महाम्बुधि! लहरों—से शतलोक, चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर,
तुङ्ग तरंगों से शत युग, शत शत कल्पांतर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत सहस्र रवि शशि; असंख्य ग्रह, उपग्रह, उड़गण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग-से तुम में तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तनहीन विवर्तन!

कल्पना का विलास बादल कविता में देखिये। बादल कहते

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल-फेन, ऊषा के पल्लव,
बारि-वसन, वसुधा, के मूल;

नभ में अवनि, अवनि में अंबर,
सलिल-भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल;

व्योम-बेलि, ताराओं की गति,
चलते अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तंद्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;

पवन-धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल-अनल के विरल वितान,
व्योम-पलक, जल-खग, बहते थल,
अम्बुधि की कल्पना महान !

कल्पना और कला इस आग्रह के कारण पंत का काव्य कल्पनाहीन, कलाहीन गद्यात्मक द्विवेदी युग के काव्य के समक्ष अत्यन्त विचित्र प्रौढ़ लगता है।

'गुंजन' से पंत ने काव्य के वाह्यांगों की अपेक्षा उसके अंतरंग पर अधिक बल देना आरभ किया। वे भावों और विचारों के क्षेत्र में क्रांति की ओर बढ़े। 'पल्लव' में वे केवल भावुक, कल्पनाप्रिय, कला-चतुर कवि मात्र हैं। उन्होंने वाणी के अंग-अंग को अपनी प्रतिभा की हीरे की कलम से बनाया-सँवारा है। परन्तु 'पल्लव' के बाद उन्होंने वाणी की आत्मा टटोली है। 'गुंजन' में हम उन्हें एक विशेष प्रकार का जीवन-दर्शन गढ़ते पाते हैं। यह जीवन-दर्शन ही 'गुंजन' की शक्ति है। तपस्, आत्म-संयम और सुख-दुख के प्रति तटस्थता से ही यह मानव-जीवन सुखी हो सकता है—कुछ इस प्रकार की विचारधारा 'गुंजन' में बह रही है। 'पल्लव' के प्रकृतिवाद और आनंदवाद से ऊपर उठ कर कवि जीवन-मृत्यु

और सुख-दुख की व्यापक और सार्वभौम समस्याओं पर विचार करता है। 'पल्लव' की कविताओं की प्रेरणा केवल कवि की आत्मस्फूर्ति है। अपने गीतिखग के स्वरों में कवि गाता है—

मेरा कैसा गान,<br>
न पूछो मेरा कैसा गान!<br>
आज छाया बन-बन मधुमास,<br>
मुग्ध-मुकुलों में गंधोच्छ्वास,<br>
लुढ़कता तृण-तृण में उल्लास,<br>
डोलता पुलकाकुल वातास,<br>
फूटता नभ में स्वर्ण विहान,<br>
आज मेरे प्राणों में गान!<br>
मुझे न अपना ध्यान,<br>
कभी रे रहा न जग का ज्ञान!<br>
सिहरते मेरे स्वर के साथ<br>
विश्व-पुलकावलि-से तरु-पात,<br>
पार करते अनन्त अज्ञात<br>
गीत मेरे उठ सायंप्रात;<br>
गान ही में रे मेरे प्राण,<br>
अखिल प्राणों में मेरे गान!

परन्तु बाद की कविताओं में आत्मस्फूर्ति का स्थान आत्मचिंतन ले लेती है। यह जीवन कवि को उल्लास से भरा जान पड़ता है। वह गा उठता है—

जीवन का उल्लास,—<br>
यह सिहर, सिहर,<br>
यह लहर, लहर,<br>
यह फूल-फूल करता विलास!

रे फैल-फैल फेनिल हिलोल
उठती हिलोल पर लोल-लोल;
शतयुग के शत बुद्-बुद् विलीन,
बनते पल-पल शत-शत नवीन,
जीवन का जलनिधि डोल-डोल
कल-कल छल-छल करता कलोल!
डूबे दिशि-पल के ओर-छोर,
महिमा अपार, सुखमा अछोर!

इसमें दुःख के काँटे भी हैं—'काँटों से भरी जटिल है जीवन के तरु की डाली' परन्तु इसी काँटों-भरी डाल में जीवन की लाली भी फूल की भाँति फूल उठी है। कवि जहाँ सुख-दुख के संतुलन को व्यक्तिगत जीवन का सत्य मान लेता है, वहाँ वह वाह्य जगत के दुःखों के नाश और मानव की मंगलाशा का भी जयघोष करता है। देह के ऊपर आत्मा, स्थूल के ऊपर सूक्ष्म, विलास के ऊपर प्रेम और तम के ऊपर ज्योति की विजय अवश्यं-भावी है। 'गुजंन', 'ज्योत्सना' और 'युगान्त' में कवि का यही संदेश है।

परन्तु 'युगान्त' के बाद कवि जीवन के प्रति दार्शनिकता पूर्ण तटस्थता जीवित नहीं रख सका। 'युगवाणी' में वह अपने कवि-नीड़ से बाहर निकला कवि के शब्दों में इस संग्रह में उसने 'युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है।' भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनो की दृष्टि से 'युगवाणी' में कवि की रचनाओं ने एक नितांत नूतन दिशा की ओर इंगित किया है। भाव पक्ष का विश्लेषण करता हुआ 'दृष्टिपात' मे कवि स्वयं लिखता है।—युगवाणी में प्रकृति सबधी कविताओं के अतिरिक्त जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में अपनी विशेषता रखती है,—मुख्यतः पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं—

(१) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

(२) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

(३) पिछले युगों के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़-रीतियों की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही हैं।

(४) मार्क्सवाद और फ्राइड के प्राणिशास्त्रीय मनो-दर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव : जन-समाज का पुनः - संगठन एवं दलित लोक-समुदाय का जीर्णोद्धार।

(५) वहिर्जीवन के साथ अंतर्जीवन के संगठन की आवश्यकता राग भावना का निवास तथा नारी-जागरण। 'युगवाणी' शीर्षक कविता में कवि ने अपने नये काव्यदर्श को इस तरह सामने रखा है—

युग की वाणी,
हे विश्वमूर्ति कल्याणी!
रूप-रूप बन जाँय भाव स्वर,
चित्र-गीत झंकार मनोहर,
रक्त-माँस बन जाय देह नव,
ज्ञान-ज्योति ही विश्व-स्नेह नव,
हास, अश्रु, आशा आकांक्षा
बन जाँय खाद्य, मधु, पानी!
युग की वाणी!

स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव,
स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर्जग ही वहिर्जगत
बन जावे, वीणापाणि, इ!
युग की वाणी!

सर्व मुक्त हो मुक्ति तत्व अब,
सामूहिकता ही हो निजत्व अब,
बने विश्व जीवन की स्वरलिपि
जन जन मर्म कहानी!
कवि की वाणी!

इसकी व्याख्या करते हुए पंत कहते हैं—'लोक-कल्याण के लिए जीवन की वाह्य (संप्रति राजनीतिक-आर्थिक) और आभ्यंतरिक (सांस्कृतिक आध्यात्मिक) दोनों ही गतियों का सगठन करना आवश्यक है। मात्रा और गुण दोनों में संतुलन होना चाहिए। जहां एक ओर असंख्य नंगे-भूखों का उद्धार करना जरूरी है, वहाँ पिछली संस्कृतियों के विरोधों एव रीति-नीतियों की शृंखलाओं से मुक्त होकर मानव-चेतना को, युग-उपकरणों के अनुरूप, विकसित लोक-जीवन निर्माण करने में संलग्न होना है।" कवि का विश्वास है कि आज मनुष्य को इस पृथ्वी से बाहर किसी स्वर्ग की खोज नहीं करना है। इसी अपनी पृथ्वी को हमें स्वर्ग बनाना है। मध्ययुग में हमने परोक्ष जीवन को ही सत्य मान कर पैरों तले की धरती की उपेक्षा की थी। पंत व्यक्तिवाद का विकास चाहते हैं, परन्तु वह विकसित समाजवाद को भी लेकर चलते हैं। 'देवत्व को आत्मसात् कर हम मनुष्य बने रहें और मानव-दुर्बलताओं के भीतर से अपना निर्माण एवं विकास कर सकें।' यह कवि का ध्येय है। जनसाधारण की प्रिय वैराग्य भावना के विरोध में वह नवीन मानसिक जीवन का निर्माण करना चाहता है। इस निर्माण में मार्क्सवाद के लोक-सगठन-रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद का पूर्णरूपेण समन्वय है। इन दोनों आदर्शवादों के प्रतीक है मार्क्स और गान्धी इसी से हम पंत को इन दोनों का स्तवन करते पाते हैं। यह इसलिये कि पंत के अनुसार—'सामाजिक जीवन के साथ ही मनुष्य की अंतर्चेतना में भी युगांतर होना अवश्यंभावी है। परन्तु सामाजिक जीवन और अंतर्जगत के

पुनर्संस्कार के साथ मनुष्य के रागतत्व का भी नया संस्कार होना चाहिये। मनुष्य स्वभाव को संस्कृत बनाने के लिए रागात्मिका प्रवृत्ति का विकास होना अनिवार्य है। वह एक मूल प्रवृत्ति है। इस वृत्ति के विकास से मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुँच जायगा और संसार में नर-नारी संबधी रागात्मक मान्यताओं में प्रकारांतर हो जाएगा। स्त्री-पुरुष भौतिक विज्ञान शक्ति से संगठित भावी लोकतंत्र में रहने योग्य संस्कार विकसित प्राणी बन सकेंगे। तब शायद धरती की चेतना स्वर्ग के पुलिनों को छूने लगेगी।' इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि पंत साम्यवाद, अंतर्जगत के पुर्नसंस्कार और मनुष्य के रागात्मतक सांस्कृतिक विकास को जीवन की प्रगति के तीन पक्ष मानते हैं। इन तीनो पक्षों पर उन्हें बहुत कुछ कहना है। 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' इसके साक्षी हैं।

इन परवर्ती संग्रहों में मानव-जीवन के संघर्ष को बड़ी तीव्र अंतर्दृष्टि दी गई है। सामयिक जीवन के सभी प्रश्नों को कवि ने कला की नव रूपरेखा में बाँधा है। 'नव दृष्टि' में कवि कहता है—

> **खुल गए छंद के बंध,**
> **प्रास के रजत पाश,**
> **अब गीत मुक्त,**
> **औ युगवाणी बहती अयास**
> **बन गए कलात्मक भाव**
> **जगत के रूप-नाम**
> **जीवन संघर्षण देता सुख,**
> **लगता ललाम !**

इन संग्रहो का काव्य मुख्यतः अप्रच्छन्न, अनलंकृत और विचार-भावना प्रधान है। भाषा और मूर्तिमत्ता के क्षेत्र में हम आकाश-पाताल का

अंतर पाते हैं। कवि जीवन के पास आ गया है — इतना पास कि वह स्पष्ट ही उसके हृदय का स्पंदन सुन सकता है। स्वप्न यहाँ भी है परन्तु प्रकृति-सौन्दर्य, नारी-सौन्दर्य और कल्पना का स्वप्न नहीं है। वह मानव-जीवन एवं समाज का रूपांतर कर पृथ्वी पर मानव-स्वर्ग बसाने का स्वप्न है। इसी स्वप्न में विभोर कवि चिल्ला उठता है—

ये राष्ट्र वर्ग,
बल शक्ति भर्ग,
बहु जाति-पाँति,
कुल वंश ख्याति,
द्रुत हों विनष्ट सब नरक स्वर्ग
विश्वास अंध,
संघर्ष द्वन्द,
बहु तर्क वाद,
उर के प्रमाद,
गत रूढ़ि-रीति,
मृत धर्म नीति
ये हैं जगती का ईति-भीति
—हों अंत
दैन्य जग के दुरंत,
आवे वसंत,
जीवन दिगंत
फिर से हो स्मित कुसुमित अनत
हो नग्न भग्न
आनन्द मग्न,
संहार श्रांत
निर्माण लग्न !

सब क्षुधा-क्षुब्ध
कामना-लुब्ध
हो तृप्त दृप्त
जग कार्य लिप्त!
अज्ञान चूर्ण,
हों ज्ञान पूर्ण,
मानव-समूह
हो एक व्यूह !

'ग्राम्या' में इसी त्रिविध आदर्शवाद से प्रभावित हो कवि ने ग्राम्यजीवन और ग्राम्य संस्कृति की बड़ी सुन्दर रूपरेखाएँ उपस्थित की हैं। नरानारी के सहयोगी श्रम के आधार पर एक नई ग्राम्य सस्कृति का विकास ही आज के द्वन्दों के प्रति-उत्तर है, कवि का कुछ ऐसा मतव्य है। इसी से कवि नर-नारी के प्रकृत, परस्पर, पूरक सबन्ध और को प्रशंसा के गीत गाता नहीं थकता। 'युगवाणी' का दार्शनिक और सैद्धांतिक स्वर 'ग्राम्या, में गाँवों की हरीतिमा और नई संस्कृति की झंकारों से भर कर मुखर हो उठता है। नए युग की जनसंस्कृति के प्रति कवि मगलाशी हो उठा है:

आज मिट गए दैन्य दुःख,
सब क्षुधा तृषा के क्रंदन,
भावी स्वप्नों के पट पर
युग-जीवन करता नर्तन।
डूब गए सब तर्क-वाद,
सब देशों राष्ट्रों के रण,
डूब गया रव घोर क्रांति का,
शांत विश्व-संघर्षण।
जाति वर्ण की, श्रेणि-वर्ग की,

तोड़ भित्तियाँ दुर्धर
युग-युग के बंदी गृह से
मानवता निकली बाहर।
नाच रहे रवि शशि,
दिगंत में-नाच रहे ग्रह उड़ु गण,
नाच रहा भूगोल,
नाचते नर-नारी हर्षित मन।
फुल्ल रक्त शतदल पर शोभित
युग लक्ष्मी लोको उज्वल
अयुत करों से लुटा रही
जनहित, जन-बल, जन-मंगल!

'स्वर्णकिरण और 'स्वर्णधूलि' में यह मंगलाशा नई आध्यात्मक भित्ति पाकर और भी दृढ़ बन जाती है। लंबी अस्वस्थता के बाद पांडेचरी के अरविंद-आश्रम में बीते कुछ दिनों ने कवि को अध्यात्मवाद की ओर आकर्षित किया जान पड़ता है। वह मानव-जीवन की प्रगति में ईश्वर की चिरंतन गति का आभास पाता है, परन्तु इस ईश्वर की व्याख्या वह इस तरह करता है कि विज्ञानवाद से वह खंडित नहीं हो सकता। औपनिषद ऋषियों की भाँति वह जीवन की अखंडित, अनिवचनीय सत्ता की कल्पना करता है :

वही तिरोहित जड़ में जो चेतन में विकसित,
वही फूल मधु सुरभि वही मधुलिह-चिर गुंजित!
वस्तु भेद ये : चिर अमूर्त ही भव में मूर्तित,
वह अज्ञेय, स्वतः संचालित, एक, अखंडित!

अधः उर्ध्व वहिरंतर उसके सृष्टि संचरण;
सांत अनंत, अनित्य नित्य का वह चिर दर्पण,

एक, एकता से न बद्ध, बहु मुख शिख शोभन,
सर्व, सर्व से परे, अनिर्वचनीय, वह परम!

परन्तु इसमें रहस्यज्ञान, भक्ति और पलायन की कुंठा नहीं हैं। वह पूर्व पश्चिम के भेद-भाव, जड़ चेतन की विषमता से ऊपर एक एक विश्वसंस्कृति की आवाज उठाता है :

वृथा पूर्व पश्चिम का दिग-भ्रम
मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्,
अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित!
पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो
विकसित विश्वतंत्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से
स्वर्ग द्रवित, भू-तमस तिरोहित!

"स्वर्णोदय, शीर्षक कविता में कवि ने ईश्वरनिष्ठ ज्ञान विज्ञान-समन्वित नये जीवन दर्शन की कुछ रेखाएं स्थिर की हैं। यह जीवन-दर्शन किसी एक मनुष्य, किसी एक जाति या किसी एक काल से आबद्ध नहीं है। यह उस विराट् व्यापक विश्वसंस्कृति का जीवन-दर्शन है जो अभी भावी के तमस में अंतर्हित है। 'पल्लव' का कल्पनाप्रिय, आनन्दवादी बालक अब 'स्वर्णोदय' के वृद्ध पितामह की अंतर्दृष्टि पा गया है। जीवन-मृत्यु और मानवमन के द्वन्द्वों के आर-पार वह देखने लगा है। इन भयों, तापों और द्वन्द्वों का खर्व हो। मनुष्य इसी पृथ्वी पर देवत्व प्राप्त कर सके। यही आज मानव के लिए नया मंगल-संदेश है।

# २

## प्रारंभिक रचनायें : 'ग्रंथि', 'वीणा' और 'पल्लव'

पंत जी की प्रारंभिक रचनाएं हैं 'ग्रंथि', 'वीणा' और 'पल्लव'। उच्छ्वास और 'आंसू' अलग - से भी प्रकाशित हो गये थे, परतु वे 'पल्लव' में समाविष्ट हुये। इससे उनका अलग उल्लेख हमने नहीं किया है। इन प्रारम्भिक रचनाओं का समय १९१६-७ से लेकर १९२७ तक चलता है —लगभग १० वर्ष। अधिकांश कविताएँ 'सरस्वती' और 'मर्यादा' में प्रकाशित हुईं। बाद में वे पुस्तकाकार संग्रहीत हुईं। इन रचनाओं मे कवि के शैशव के चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं। 'ग्रथि' 'उच्छ्वास' और 'आँसू को हम एक साथ लेंगे। शेष दोनों रचनाओं को अलग-अलग।

'ग्रंथि', 'उच्छ्वास' और 'आँसू' एक ही प्रेम-काव्य के तीन खंड समझे जायेंगे। 'ग्रंथि' में इस खंड-काव्य की कथावस्तु मिलेगी, 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में प्रेम के दुखांत होने पर भावुकताप्रधान प्रलाप। इन तीनो रचनाओं का एतिहासिक महत्व है। अब तक व्यक्तिगत रूप से दुख-सुख, मिलन-वियोग की कहानी हिन्दी में किसी भी कवि ने नहीं लिखी थी। बाद में 'मिलन' और 'पथिक' जैसे प्रेम-काव्य सामने आये। प्रेम का भावुकता-प्रधान रोमांटिक रूप इन्हीं तीन कविताओं द्वारा पहली बार हिन्दी में उपस्थित हुआ और पाठक उसमें बह गये। यह प्रेम-कथा किसी भी प्रकार विचित्र और असाधारण नहीं कही जा सकती।

तब कवि किशोर था। किसी ताल में अकेला नौका-विहार कर रहा था। सहसा एक दुर्घटना हो गई। नाव उलट गई। जब उसकी आँख खुली तो उसने देखा, एक पार्वतीय बालिका की जंघा पर उसका सिर है और वह

सेवोपचार कर रही है। यहीं से प्रथम दर्शन वाले प्रेम का आरम्भ हो गया है।—इस प्रेम के विकास की कथा ही 'ग्रंथि' की कथा है। किसी सामाजिक कारण से प्रेमी-प्रेमिका परिणय-सूत्र में नहीं बँध सकते थे। कदाचित् प्रेमिका किसी कारण वश प्रेमी पर सदेह भी करने लगती है। इसी से इस प्रेम अत हो जाता है। इस थोड़े-से कथानक के आधार पर कवि ने भावुकता का रंगमहल खड़ा करने का प्रयत्न किया है। कवि की आँखें के सामने ही उसकी प्रेमिका का किसी अन्य से ग्रंथि-बन्धन हो गया। कवि कहता है –

हाय! मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथिबंधन हो गया, वह नव कमल
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया!
पाणि! कोमल पाणि! निज बंधूक की
मृदु हथेली में सरल मेरा हृदय
भूल से यदि ले लिया था, तो मुझे
क्यों न वह लौटा दिया तुमने पुनः?
प्रणय की पतली अँगुलियाँ क्या किसी
गान से विधि ने गढ़ीं! जो हृदय को
याद आते ही, विकल संगीत में
बदल देतीं हैं भुला कर, मुग्ध कर!

उस समय के भावों के [illegible] का बड़ा सुन्दर चित्रण इस कविता में हुआ है। कवि कहता है—

याद है मुझको अभी वह जड़ समय
ब्याह के दिन जब विकल दुर्बल हृदय
अश्रुओं-से तारकों को विजन में

गिन रहा था, व्यस्त हो, उद्भ्रांत हो !
हाय रे मानवहृदय ! तुझसे जहाँ
वज्र भी भयभीत होता है, वहीं
देख तेरी मृदुलता तिल—सुमन भी
संकुचित हो, सहम जाता है सदा !

इस स्मृति से कवि भावना में भर जाता है। उसका हृदय चीत्कार कर उठता है :

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को,
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उड़गणों ! गाओ, पवन-वीणा बजा !
पर, हृदय ! सब भाँति तू कगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी !
देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो हृदय, रो !

द्विवेदी युग की भावनाहीन, गद्यात्मक कविताओं के सामने इस प्रकार भावुक रचना अत्यन्त आकर्षक थी। इस अपनी पहली रचना में भी कवि काव्यगत संयम और भाषा एवं मूर्तिमत्ता के प्रयोग में अतुलनीय है।'आँसू' और 'उच्छ्वास' मे इस भग्न प्रेम की वेदना को बड़ा ही सुन्दर रूप मिल गया है। कवि जैसे इस दुख का ओर-छोर पाता ही नहीं। वह कहता है—

करुण है हाय ! प्रणय,
नहीं दुरता है जहाँ दुराव,

करुणतर है वह भय,
चाहता है जो सदा बचाव,

करुणतम भग्न हृदय,
नहीं भरता है जिसका घाव,
करुण अतिशय उनका संशय,
छुड़ाते हैं जो जुड़े-स्वभाव !
किये भी हुआ कहां संयोग ?
टला टाले कब इसका वास ?
स्वयं ही तो आया यह पास,
गया भी बिना प्रयास !

कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय, क्या गंगा-जल की धार !!

हृदय ! रो, अपने दुख का भार !
हृदय ! रो, उनको है अधिकार !
हृदय ! रो, यह जड़ स्वेच्छाचार,
शिशिर का सा समीर—संचार !!

उच्छ्वास की कुछ पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि प्रेमी-प्रेमिका के बीच में व्यवधान लाने वाला कारण संदेह था। इसी से कवि कहता है—

मर्म-पीड़ा के हास !
रोग का है उपचार,
पाप का भी परिहार,
है अदेह सन्देह, नहीं है इसका कुछ संस्कार।
हृदय की है यह दुर्बल हार !!

कवि ने अनेक सुन्दर उक्तियों के सहारे संदेह को धिक्कारा है परन्तु कविता की महत्ता उस प्रकृति-वीथिका में है जिसमें कवि ने अपनी कथा-वस्तु को सजाया है। पर्वत प्रदेश की क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृति के बीच कवि के प्रेम ने जन्म लिया। वाह्य प्रकृति की तरह ही बालिका उसकी मनोरमा मित्र बन गई, परन्तु यह मित्रता अधिक दिनो तक निभ नहीं सकी। सन्देह ने उसका अंत कर दिया। कवि एक जीवित समाधि बन गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उच्छ्वास', 'आँसू' और 'ग्रंथि' एक ही शृंखला की तीन कड़ियाँ हैं। 'वियोगी होगा पहला कवि—' यह कवि ने स्वयं लिखा है। उसकी रचनाएँ इस तथ्य को चरितार्थ करती हैं। परन्तु इन रचनाओं की महत्ता उतनी भाव-पक्ष के नाते नहीं जितनी कला-पक्ष के नाते है। कवि ने प्रेमी-प्रेमिका के एक-एक भाव को लिया है और उसका इस सूक्ष्मता से अंकन किया है कि हृदय मुग्ध हो जाता है। इन प्रारम्भिक रचनाओं के बाद पंत ने भावों के चित्रण के क्षेत्र को ही छोड़ दिया। उन्होंने कोई कथा-काव्य नहीं लिखा। फलतः हिन्दी 'ग्रंथि' की कला का किसी व्यापक विस्तृत क्षेत्र में प्रयोग नहीं देख सकी। पंत की कला पर विचार करते समय हम इस सारी सामग्री की विवेचना करेंगे।

इस प्रारम्भिक रचनाओं के बाद 'वीणा' आती है। 'वीणा' में कवि की कुछ ऐसी रचनायें संग्रहीत हैं जो इन रचनाओं से भी पहले लिखी गई थीं। 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास' और 'आँसू' क्रमशः १६२०, १६२१ और १६२२ की रचनाएँ हैं। 'वीणा' की रचनायें काल-क्रम से इससे पहले आती है। प्राक्कथन में कवि ने लिखा है—'इस संग्रह में दो - एक को छोड़ अधिकांश सब रचनाएँ सन् १६१८-१६ की लिखी हुई हैं। उस कवि-जीवन के नव प्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर नूपुर-ध्वनि तथा अनिर्वचनीय सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो मेरा मन्द कवियशः—प्रार्थी निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि वीणा-वदिनी के चरणों के पास बैठ, स्वर-साधना करते समय अपनी आकुल उत्सुक हृत्तंत्री से बार-बार चेतना चेष्टा करते रहने पर अत्यन्त असमर्थ

अँगुलियों के उलटे-सीधे आघातों द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट झंकारें जाग्रत कर चुका है, वे इस वीणा के स्वरूप में आपके सामने उपस्थित हैं। इन कविताओं में वह प्रौढ़ता नहीं मिलती जो 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास' और 'पल्लव' की कविताओं में है। ये बाल-कवि के प्रयत्न मात्र हैं जो उसकी भावी दिशाओं की सूचना देते हैं। परन्तु इन कविताओं में भी कुछ ऐसी चीज है जो हमें आज भी आकर्षित करती है। यह चीज एक प्रकार की कोमलता है। यह कोमलता कहीं भावों की है, कहीं भाषा की, कहीं दोनों की। 'वीणा' की सबसे प्रौढ़ कविता प्रथम रश्मि है। इसमें हम पहली बार वह उन्मेष देखते हैं जो 'पल्लव' में पूर्ण रूप से विकसित हैं। प्रभात का वर्णन करता हुआ कवि कहता है —

निराकार तम मानो सहसा
ज्योतिपुंज में हो साकार;
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम रूप नाना;
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल;
सुप्त समीरण हुआ अधीर;
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना;
खुले पलक, फैली सुवर्ण छबि,
जगी सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पंदन, कम्पन औ' नवजीवन
सीखा जग ने अपनाना;
प्रथम रश्मि का आना रंगिनि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बालविहंगिनि !
पाया यह स्वर्गिक गाना !

इस एक कविता को छोड़कर अन्य कवितायें न उतनी प्रौढ़ हैं न उतन प्राणवान् । अधिकांश कवितायें भाव प्रधान है । या उनमें अस्पष्ट दार्शनिक विचारों को प्रमुख स्थान मिला है। कल्पना की उस उड़ान का अभी पता भी नहीं जो 'पल्लव' के लिए एक अत्यन्त महत्व की चीज है। अधिकांश कविताओं में शैशवोचित चापल्य ही अधिक मिलेगा। हां, कुछ कविताओं में कवि का सूक्ष्मदर्शी रूप भी हमारे सामने आता है, परन्तु ऐसी कवितायें अधिक नहीं हैं। उदाहरण के लिए ये चार पंक्तियाँ हैं जिनमें कवि ने रात के अन्धकार के प्रभात के आलोक में बदलने का वर्णन इस प्रकार किया है—

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम-रूप नाना!

यहां कुछ थोड़े से ही शब्दों में कवि अन्धकार की बड़ी सार्थक कल्पना मूर्तिमान करने में सफल हुआ है। इस प्रकार की कविता उसकी दार्शनिक भावों की अत्यन्त सफल पकड़ और उसकी भाषा की समर्थता प्रगट करती है। 'गुंजन' की दार्शनिक कविताओं की सूचना इन कुछ पंक्तियों में ही मिल जाती है।

'वीणा' की कविताओं में कवि ने विशेष रूप से कोमल भावों की ओर अच्छा ध्यान दिया है। वह अपने को बालिका बना लेता है जो कभी माँ से प्रश्न करती है, कभी किसी अज्ञात शक्ति से। कोमलता और मधुरता का इतना सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है कि इन बाल-कविताओं से मन मुग्ध हो जाता है। एक कविता से इस विशेषता को अच्छी तरह समझा जा सकेगा। अल्मोड़े में स्वामी विवेकानंद आये। दीपावलियाँ जला कर उनका स्वागत किया गया। पथ में पाँवड़े बिछे। बालिका पूछती है :

"मा ! आल्मोड़े में आए थे
जब राजर्षि विवेकानंद,
तब मग में मखमल बिछवाया,
दीपावलि की विपुल अमंद;
बिना पांवड़े पथ में क्या वे
जननि ! नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा !
मन्द दृष्टि कुछ रखते हैं ?

इस पर मा समझाती है –

"कृष्णे, स्वामी जी तो दुर्गम
मग में चलते हैं निर्भय,
दिव्य दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कण्टकमय;
वह मखमल तो भक्तिभाव थे
फैले जनता के मन के;
स्वामीजी तो प्रभावान हैं;
वे प्रदीप थे पूजन के ।

इस प्रकार के कोमल-कोमल भाव इस बालकवि ने छन्दवद्ध कर दिये हैं । एक और चीज़ से इन प्रारंभिक कविताओं का आकर्षण है । वह है इनका संगीत । प्रत्येक पंक्ति जैसे वीणा की झंकारों में डूब कर बाहर निकलती हैं :

नीरव तार हृदय में—
गूंज रहे हैं मंजुल लय में,
अनिल-पुलक-से अरुणोदय में !
चरण-कमल में अर्पण कर मन,
रज-रंजित कर तन,

मधु-रस-मज्जन कर मम जीवन
चरणामृत आशय में!

समसामयिक कविता में शब्दों की यह माधुरी, पदावली का यह चमत्कार दुर्लभ ही नहीं, असम्भव था। अत्यन्त जड़ कवितायें उस समय काव्य का गौरव बनी हुई थी। उनमें न किसी ऊँची रहस्यमयता का संकेत था, न किसी कलात्मक प्रेरणा का। वे केवल कथा, केवल नीति या केवल वर्णन को छंद-बद्ध कर देती थीं। इन सहस्त्रों जड़ कविताओं में पंत की इन बाल-कविताओं का प्राणों को स्पर्श करने वाला संगीत कहां, भावों को पुलकित करने वाला उन्मेष कहां, मन को छू कर उसके अज्ञात कोषों में हिलोर उठाने वाली रहस्यमयता कहां? आज के पाठक को इन रचनाओं में कोई चमत्कार नहीं मिलता। वह बराबर इस तरह की अधखुली-अधमुंदी पदावली पढ़ता चला आ रहा है। परन्तु बीस वर्ष पहले ये कवितायें ऐसी थी जैसे मरु-भूमि में हरीतिमा के गिने-चुने स्थल। कुछ लोगों के लिए वह पूर्णतः अस्पष्ट थीं--उनको व्यंग और लांछा का विषय भी कम नहीं बनाया गया—परन्तु कुछ लोग अंग्रेजी-बंगला काव्य के अपने अध्ययन के सहारे इनमें कवि की भावना को ढूंढ लेते थे और उसकी सहज कवि-प्रतिभा से चमत्कृत होते थे। इन कुछ लोगों ने कवि का स्वागत किया। विरोधियों के आक्षेपों ने उन्हें विचलित नहीं किया। कवि के उज्ज्वल भविष्य की आशा में ये उसे बराबर सद्प्रेरणा और सदोत्साह देते रहे। यही बहुत था।

'वीणा' की प्रारम्भिक कविताओं के बाद कवि में किशोर के स्वप्न फूटने लगते हैं और उसके स्वर में पहली बार प्रेम की पुकार सुनाई पड़ती है। 'ग्रंथि', 'आंसू' और 'उच्छ्वास' इसी प्रकार के तीन स्वर हैं। 'ग्रंथि' में वह बाल-सुलभ सहजता या कोमलता नहीं है जो 'वीणा' की कविताओं मे। यह स्पष्ट है कि किशोर कवि अपने सारे अध्ययन, अपनी सारी कला, अपनी सारी अनुभूतियों को इस एक प्रेम-कथा में भर देना

चाहता है। फिर भी उसके सौन्दर्य-चित्रण में एक नई कला है जो प्रचलित रीतिकालीन कला से नितांत भिन्न है। रीतिकालीन कवि नायिका का नखशिख वर्णन करने मे पृथ्वी-आकाश के कुलाबे मिला देता था। न जाने कहाँ-कहाँ से बटोर कर कैसे कैसे उपकरण उसे इकट्ठे करने पड़ते थे। परन्तु वह जो कुछ लिखता उसमे प्राणों का रस जरा भी नहीं रहता। पंत के ही शब्दो में "उनको ( शृंगारप्रिय कवियो की ) अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रोपदी के दुकूल को तरह फैलकर 'नायिका' के अंग-प्रत्यंग से लिपट गई। बाल्य-काल से वृद्धावस्था-पर्यंत,—जब तक कोई चंद्रवदनि मृगलोचनी तरस खाकर उनसे 'बाबा' न कह दे—उनकी रसलोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक—दक्षिण ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक—यात्रा कर सकी। ऐसी विश्वव्यापो अनुभूति! ऐसी प्रखर प्रतिभा! एक हो शरीर-यष्टि में समस्त ब्रह्माण्ड देख लिया! अब इनकी अक्षय कीर्ति-काया को जन्म-मरण का भय? इसी विराट-रूप का दर्शन कर ये पुष्पधनुर्धर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को मथ कर इन्होने कामदेव को नवजन्मदान दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है? इन वीरों ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा इसीसे पंत ने अपने प्रेमकाव्य में रीतिकाल के कवियों के विपरीत एक नया मार्ग निकालने का प्रयत्न किया यद्यपि वे सदैव सफल नहीं हो सके हैं। उनकी 'मानसी' धीरे-धीरे उतनी ही 'अवमयी' बन गई है जितनी रीति-काल के कवियों की, परन्तु उनका वातावरण नितांत आधुनिक है और कायिक प्रेम-विलास भी उनके लिए लांछा की वस्तु नहीं।

ग्रंथि' में नायिका के प्रथम मिलन का चित्रः

> **एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक**
> **थे उठे ऊपर . सहज नीचे गिरे,**
> **चपलता ने इस विकम्पित पुलक से,**

दृढ़ किया मानों प्रणय-सम्बन्ध था।
लाज की मादक सुरा - सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से
छलकती थी बाढ़ - सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से।
इन गढ़ों में—रूप के आवर्त से—
घूम-फिर कर, नाव से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के?
जब प्रणय का प्रथम परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को तब यत्न से
बैठ कर मैंने निकट ही शांत हो,
विनत वाणी में प्रिया से यों कहा :—

इस तरह का अत्यन्त स्वाभाविक, प्रेमी-प्रेमिकाओं के श्वासोच्छ्वासों में बँधा सौन्दर्य-वर्णन रीतिकाल की कविता में कहाँ है! परम्परा-गत उपमानों को एक थैली में बटोरने का प्रयत्न यहाँ नहीं है—

रूप के आवर्त से
घूम-फिर, कर नाव-से किसके नयन
हैं नहीं डूबे

कितनी सार्थक कविता है। रीतिकाल का कवि देह ही को तकता बैठा रहा है परन्तु उसने देह हो के सौन्दर्य का पूरा-पूरा अनुसंधान कहाँ किया! वह 'चन्द्रमुखी चन्द्रमुखी' चिल्लाता रहा है, पर चन्द्रमुखी के इस सौन्दर्य को वह कब उन्मुक्त कर सका जो पंत की इन पक्तियों में है—

देखता हूँ, जब पतला
इंद्रधनुषी हलका

रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद – कला
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अंतर्धान;
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान ?

इस तरह की सूक्ष्म भावाभिव्यजक शैली सदैव अभिनन्दनीय है। इस शैली के प्रारम्भ करने का सारा श्रेय पंत को ही मिलेगा। उन्होंने ही हिंदी प्रेम-काव्य को जड़ परम्परा के बन्धन से मुक्त किया। उन्होंने ही प्रेमी-प्रेमियों का देह को रीतिकालीन वासना के कर्दम से स्वच्छ किया।

परन्तु 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का और भी बहुत कुछ महत्व है 'आँसू' में हमें पहली बार प्रकृति के मौलिक अनुभूति प्राण-चित्र मिलते हैं। बादलों का ऐसा चित्रण तो सारे हिंदी काव्य में नहीं मिलेगा :

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में फैल !
अवनि औ' अम्बर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल !
शिखर पर विचर मरुत-रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों से मेघों के बाल,
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर।

द्विरद - दन्तों से उठ सुन्दर
सुखद कर-सीकर- से बढ़ कर,
भूति से शोभित बिखर-बिखर
फैल फिर कटि-के-से परिकर

बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गिरिवर !

एक और चित्र देखिए—

विहंगम-सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर ।

प्रकृति के इन चित्रों से सौन्दर्य-चित्रण की एक नई शैली पन्त को मिल जाती है । प्रकृति उन्हें अपनी बिछुड़ी हुई प्रेयसी की याद दिलाती है:

खेंच ऐंचीला - भ्रू - सुरचाप
शैल की सुधि यों बारम्बार
झुला झरनों का झलमल हार,
हिला हरियाली का सुदूकूल,
जलद-पट से दिखला मुखचन्द्र,
पलक पल-पल चपला के मार,
भग्न उर पर भूधर-सा हाय !
सुमुखि धर देती है साकार !

कवि भाव में इतना विभोर हो जाता है कि यह सारी प्रकृति उसे अपने ही दुःख में डूबी जान पड़ती है । लगता है जैसे यह सारा विश्व उसी के प्रति संवेदना दिखा रहा है :

सिसकते हैं समुद्र से मन,
उमड़ते हैं नभ से लोचन,
विश्ववाणी ही है क्रंदन,
विश्व का काव्य अश्रुकन !

गगन के भी उर में हैं घाव,
देखतीं ताराएँ भी राह ;
बँधा विद्युत-छवि में जलवाह,

**चन्द की चितवन में भी चाह,**
**दिखाते जड़ भी तो अपनाव,**
**अनिल भी भरती ठण्डी आह !**

भावना की इतनी सार्वभौमता पहले के काव्य में संभव नहीं थी। अंग्रेजी कविता में इस तरह के चित्रण की प्रणाली है और कदाचित् पन्त को वहीं से प्रेरणा मिली है परन्तु जिस कला मे पन्त ने इस प्रेरणा को बाँधा है, बाँध कर सुन्दर काव्य का रूप दिया है वह कला उनकी अपनी है। इसमे जरा भी संदेह नहीं। प्रकृति, प्रेम और कल्पना का इतना सुन्दर गठबन्धन और कहीं नहीं हुआ। प्रसाद जी का 'आँसू' (१६२५) प्रेम-काव्य अवश्य है, परन्तु उसमें वाग्विलास की अधिकता है। रूपक के रूप में बात कहने की प्रवृत्ति होने के कारण वह सुन्दर प्रेम-काव्य का रूप ग्रहण नहीं कर सका है। निराला ने प्रेम-संबंधी कविताएँ अधिक नहीं लिखी। प्रिया के प्रति जैसी कविताएँ उन्होने दो चार नही भी लिखी ! बात कहने की सुन्दर कला उनकी इस कविता में थी।

**एक बार भी यदि अजान के**
**अन्तर से उठ आ जातीं तुम,**
**एक बार भी प्राणों की तम-**
**छाया में आ कह जातीं तुम**
**सत्य हृदय का अपना हाल,**
**कैसा था अतीत वह, अब यह**
**बीत रहा है कैसा काल !**
**मैं न कभी कुछ कहता,**
**बस, तुम्हें देखता रहता !**

परन्तु पन्त का कवित्व इसमें नहीं था। पन्त का प्रेमकाव्य अधिक नहीं है, परन्तु वह बड़ा प्राणवान् है। उसमें सहानुभूति, कला और कविता (कल्पना) का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। आज इतने वर्ष बीत जाने पर

भी वह उतना ही आकर्षक है जितना अपने जन्म के समय। यह उसकी शक्ति का ही प्रमाण है। वर्णन की सरलता तो चकित कर देती है:

———— बालिका ही थी वह भी
सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन।
सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को, मन को खींच,
उचित बन जाता था उपमान।

यह कहा जा सकता है कि इसमें बहुत कुछ कृत्रिम है, बहुत कुछ ऐसा है जो उस रीति काव्य से उधार लिया गया है जिसे पन्त स्वयं अपने व्यंग का लक्ष्य बनाते हैं। 'कान से मिले अजान नयन' वाली परम्परा विद्यापति के समय से चली आ रही है। इस प्रकार के अनेक रूढ़ि-प्रयोग हैं परन्तु उनकी सख्या अधिक नहीं और कवि ने अपनी प्रतिभा के बल से उन्हें नवीन जीवन दे दिया है। इन प्रारम्भिक कविताओ में कवि ने कहीं-कहीं तो इतनी शक्ति और सौन्दर्यमयता का परिचय दिया है कि कदाचित् वह स्वयं अपनी परवर्ती कविताओ में कल्पना और कला को उतना ऊँचा क्षितिज नहीं छू सका। उदाहरण के लिए पावस और वियोगी जीवन का यह रूपक

मेरा पावस-ऋतु सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा घुमड़ा अपार मन
गहरे धुँधले, धुले, साँवले,
मेघों से मेरे भरे नयन!
कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों से हाय!

अरुण कलियों से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय !
इंद्र-धनु सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर
कभी कुहरे-सा धूमिल, घोर
दीखती भावी चारों ओर !
सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान!
धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल
आज सोने का संध्याकाल
जल रहा जतुगृह-सा विकराल;
पटक रवि को बलि-सा पाताल
एक ही वामन-पग में—
लपकता है तमिस्र तत्काल,
धुँए का विश्व विशाल !
चिनगिओं-से तारों को डाल
आग का-सा अंगार शशि-लाल
लहकता है, फैला मणि-जाल,
जगत को डसता है तम व्याल !

स्त्री-पुरुष के प्रेम-मिलन और वियोग का वर्णन करते हुए कदाचित् हिन्दी के किसी कवि ने कल्पना की इतनी ऊँची उड़ान नहीं ली। कदाचित्

इतनी प्रतिभा ही नहीं थी। पंत के काव्य के सारे गुण और दुर्गुण उनकी इन दो-तीन प्रारंभिक कविताओं में मिल जाते हैं। परन्तु भाव का जो उन्मेष और कल्पना का रौद्र रूप हमें इन रचनाओं में मिलता है, वह फिर नहीं मिलता। कवि प्रकृति के कोमल पक्ष को ही अधिक ग्रहण करने लगा है। उसका स्वर संयत हो गया है। इतना संयत—कि कुछ आलोचकों को कवि मे भावना का नितांत अभाव-सा लगता है। लगता है कि कवि संसार से दूर, ससार से बहुत ऊपर उठा हुआ, अपने व्यक्तित्व को भूल कर न जाने कैसी स्वर-ताल-लय से बँधी शान्त बाँसुरी बजा रहा है जो प्राणों में केवल गुन्जन भरने में समर्थ है, कोई बड़ी हलचल जो नहीं उठाती।

जो हो, यह निश्चित है कि पंत की प्रारंभिक रचनाओं का हिन्दी काव्य-साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है—और कदाचित् सदैव रहेगा। छायावाद काव्य के प्रधान प्रवर्तकों में होने के कारण उन्हे सदैव ही क्रान्तिकारी समझा जायगा। 'ग्रन्थि','आंसू' और 'उच्छ्वास' अपने-अपने में पूर्ण काव्य-ग्रन्थ हैं। वे छोटे हैं या बड़े, उनमें वह सब हो या न हो जो पत के परवर्ती काव्य में है, परन्तु इसमें सदेह नहीं कि इन्हीं की नींव पर पंत का भावी काव्य का रगमहल उठा है। काव्य के उस ताजमहल को हम देखते हैं तो हमें बड़ा आश्चर्य होता है, परन्तु उसके नीव के पत्थरों को हम भूल जाते हैं। परन्तु इतिहास उन्हें भूल नहीं सकेगा। आश्चर्य और विस्मय तो यह है कि इस प्रारंभिक काव्य की एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जो आज अपूर्ण, असमर्थ या अस्पष्ट कही जाये। न जाने इस थोड़े से काव्य के पीछे कवि की कितनी साधना छिपी है। कवि के पास रह कर जिन्होंने बाद में उसकी साधना को देखा है, जो 'ज्योत्स्ना' के एक-एक गीत की दस-दस प्रतिलिपियाँ देख सका है, जो निरन्तर परिवर्तन-परिवर्द्धन का साक्षी है, वह इस साधना की कल्पना कर सकता है। अद्भुत होगी वह!

'पल्लव' में हमें पहली बार कवि की प्रतिभा का पूर्ण उन्मेष प्राप्त होता है। वास्तव में 'पल्लव' कवि की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से है और अब भी

कुछ आलोचक उसे पंत की सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं। एक विशेष प्रकार की कला इस संग्रह की कविताओं में पूर्णता को प्राप्त हुई है। 'पल्लव' के बाद कवि का स्वर अधिक संयत हो गया है और उसकी कविता की स्वाभाविक प्रतिभा उसके विचारों से बोझल हो उठी है। भाषा का जो कलात्मक रूप और भावों का जो उन्मुक्त प्रवाह यहां प्राप्त है, वह बाद की कविताओं में नहीं मिलेगा। सच तो यह कि 'पल्लव' का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है और इस व्यक्तित्व के कारण कवि की रचनाओं मे उसका विशिष्ट स्थान सदैव ही बना रहेगा। पहली ही कविता 'पल्लव' से कवि का स्वच्छंदवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। अपनी कविता के संबन्ध में लिखते हुये कवि कहता है—

**न पत्रों का मर्मर-संगीत,**
**न पुष्पों का रस, राग, पराग;**
**एक अस्फुट, अस्पष्ट, अगीत,**
**सुप्ति की ये स्वप्निल मुस्कान;**
**सरल शिशुओं के शुचि अनुराग,**
**वन्य विहगों के गान!**
**हृदय के प्रणय-कुंज मे लीन**
**मूक कोकिल का मादक गान,**
**बहा जब तन-मन-बन्धन हीन**
**मधुरता से अपनी अनजान;**
**खिल उठी रोओं-सी तत्काल**
**पल्लवों की यह पुलकित डाल!**

इससे स्पष्ट है कि कवि भावुकता को प्रधानता देता हैं और कविता उसके लिए भावुकतापूर्ण एकांत-साधना ही है। 'पल्लव' की अधिकांश कविताओं का आधार कवि की भावुकता ही है। इस भावुकता के कारण ही कवि किसी वस्तु से उत्तेजित होने पर ढेर के ढेर चित्र देता चला जाता है।

वह अपने विषय को स्पष्ट कर सका है या नहीं इसका उसे भाववशलता के कारण ध्यान भी नहीं रहता ।

'पल्लव' में कवि के आकर्षण का मुख्य केन्द्र प्रकृति है । अभी वह १८-२० वर्ष का तरुण ही है । 'पल्लव' की अधिकांश कविताओं की तिथि १९१८ ई० और १९२५ के बीच में आती है । अभी कवि नारी की ओर भी आकर्षित नहीं है । प्रकृति और नारी को लेकर उसके हृदय में द्वन्द चल रहा है । 'मोह' शीर्षक कविता से इस अंतर्द्वन्द का पता चलता है—

> **छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,**
> **तोड़ प्रकृति से भी माया,**
> **बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?**
> **भूल अभी से इस जग को !**
> **तज कर तरल तरंगों को,**
> **इंद्रधनुष के रंगों को,**
> **तेरे भ्रू-भंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग-सा मन ?**
> **भूल अभी से इस जग को !**
>
> **(जनवरी, १९१८)**

इस द्वन्द में प्रकृति की ही विजय होती है । 'पल्लव' की कई सुन्दर कविताओं का विषय प्रकृति ही है । 'वीचि-विलास' में कवि लहरों से आत्मीयता का संबन्ध स्थापित करना चाहता है । सरिता का उल्लास उसे स्वर्गीय जान पड़ता है । सुन्दर, सार्थक और नाद-प्रधान शब्दों से वह सरिता की लहरों के आलोड़न-विलोड़न का चित्र उपस्थित करना चाहता है :

> **अरी सलिल की लोल हिलोर !**
> **यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?**
> **सरिता की चंचल दृग-कोर !**
> **यह जग को अविदित उल्लास ?**

आ, मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर!

मानस की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की ओर उसका आकर्षण अब भी है। इसी लिए वह इस क्षेत्र से ही अपनी उपमाएं- उत्प्रेक्षाएं इकट्ठी करता है। उपमाओं का इतना सार्थक प्रयोग उस समय अन्यत्र नहीं मिल सकेगा। कवि कहता है—

तुम इच्छाओं-सी असमान,
छोड़ चिह्न उर में गतिवान,
हो जाती हो अंतर्धान!
मुग्धा-की-सी मृदु मुस्कान
खिलते ही लज्जा से म्लान;
स्वर्गिक सुख की-सी आभास
अतिशयता में अचिर, महान,
दिव्य-भूति-सी आ तुम पास
कर जाती हो क्षणिक विलास,
आकुल उर को दे आश्वास।

प्राकृतिक काव्य के क्षेत्र में यह एक बिल्कुल नया प्रयोग है। अब तक हिन्दी प्रकृति-काव्य के आदर्श पंडित श्रीधर पाठक थे। परन्तु उनका अधिकांश प्रकृतिवर्णन तथ्यप्रधान है। द्विवेदीयुग में भी प्रकृति को इतिवृत्तात्मक, वर्णनप्रधान, तथ्यमूलक रूप में देखा गया। प्रकृति के पीछे किसी महान् रहस्य की कल्पना नहीं की गई थी। 'काश्मीर-सुषमा' में श्रीधर पाठक ने प्रकृति के सहज आनन्दोद्रेक का वर्णन पहली बार किया था। उन्होंने प्रकृति को जीवित-स्पंदित रूप में देखा:

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन-छिन धारति।

**विमल अंबु-सर मुकुरन महँ मुख-बिंब निहारति॥**
**अपनी छबि पर मोहि आप ही तन-मन वारति॥**
**यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर।**
**यहिं अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर॥**

परन्तु द्विवेदी युग के कवियों ने इस परंपरा का विकास नहीं किया। उन्होंने प्रकृति के जड़, अनुभूति-शून्य चित्र ही हमें दिये। हरिऔध ने संध्या का चित्रण इस प्रकार किया—

**दिवस का अवसान समीप था,**
**गगन था कुछ लोहित हो चला।**
**तरु-शिखा पर थी अवराजती**
**कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।**
**विपिन बीच विहंगम वृंद का**
**कलनिनाद समुत्थित था हुआ।**
**ध्वनिमयी-विविधा विहंगावली**
**उड़ रही नभमंडल मध्य थी।**

इस उद्धरण मे भाषा का चाहे जो ऐश्वर्य हो, प्रकृति का सजीव वर्णन किंचित भी नहीं है। या फिर गद्यात्मक पद्य रहते :

**वर्षा आई—वर्षा आई—जलदों ने जल नदी बहाई,**
**देखो घोर घटा नभ छाई—बूंदों की है झड़ी लगाई।**
**इंद्रधनुष की छटा निराली, वीर बहूटी लाली लाली;**
**शोभामयी हुई हरियाली—सबका चित्त लुभाने वाली॥**

मैथिलीशरण की कविता मे भी प्रकृति अपना व्यक्तित्व निर्माण नहीं कर सकी। वह चित्रकार की कोटि से आगे नहीं बढ़ सके :

**ऊपर नील वितान तना था, नीचे था मैदान हरा।**
**शून्य मार्ग से विमल वायु का आना था उल्लास भरा।**

कभी दौड़ने लग जाते हम, रह जाते फिर मुग्ध खड़े।
उड़ने की इच्छा होती थी उड़ते देख विहंग बड़े।

प्रेमी-प्रेमिकाओं की मानस-भूमि को शोभा और सौन्दर्य से सजाने के लिये प्रकृति का पहला प्रयोग 'पथिक' और पंत की कविताओं (ग्रंथि, आँसू और उच्छ्वास) में ही हुआ है। 'पथिक' का नायक प्रकृति के सौन्दर्य पर इतना मुग्ध है कि वह अपने सारे जीवन को उसी की छाया में बिताना चाहता है। वह कहता है—

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही थी नभ में वारिदमाला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर, ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ, यही चाहता मन है॥

कभी-कभी 'पथिक' का कवि भाषा के प्रयोग में इतना ऊँचा उठ जाता है कि वह पंत की भूमि छू लेता है :

घोर निशीथ, गँभीर तमावृत, शांत दिशा, आकाश,
नीरव तारागण करते थे झिलमिल अल्प प्रकाश।
प्रकृति मौन, सचराचर निद्रित, अति निस्तब्ध समीर।
जाग्रत बन में लता-विनिर्मित केवल एक कुटीर॥

परन्तु भाषा-सौन्दर्य से पूर्ण प्रकृति का सजीव, सुन्दर, रहस्यमय वर्णन पहले-पहले पंत के ही द्वारा हुआ। पर्वतीय प्रकृति का वर्णन करते हुये उन्होंने लिखा—

उड़ गया, अचानक, लो, भूधर—
फड़का अपार पारद के पर!
रव-शेष रह गए हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अंबर!
धँस गए धरा में सभय शाल!

उठ रहा धुँआँ, जल गया ताल !
—यों जलद-यान में विचर, विचर,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल !

यह पर्वत-प्रदेश के बादलों का एक चित्र है। 'बादल' के भीम-भयंकर गर्जन, उनके भूताकार और उनकी क्षण-क्षण परिवर्तित शोभा का वर्णन ध्वनि-साम्य के आधार पर उन्होंने इस तरह किया—

धूम-धुआरे, काजर कारे,
हम ही विकरारे बादर,
मदन-राज के बीर बहादुर,
पावस के उड़ते फणिधर;
चमक-झमक मय मंत्र वशीकर,
छहर-घहरमय बिष-सीकर,
स्वर्ग सेतु-से इंद्र धनुष-धर,
कामरूप घनश्याम अमर,

(अप्रैल, १६२२)

परन्तु उन्होंने अनेक मानसिक रूपकों के आधार पर प्रकृति और मन का सम्बन्ध भी जोड़ा और प्रकृति को अत्यंत व्यापक मूल चिरशक्ति के रूप में पहचाना। प्रकृति उनके लिए साधारण शोभा-मात्र नहीं रह गई। उसका प्रत्येक इंगित अत्यंत रहस्यमय बन गया। वह महान् अमर तत्वों से संयोजित हुई। लहरों का वर्णन करता हुआ जब कवि कहता है—

ओ अकूल की उज्वल हास !
अरी अतल की पुलकित श्वास !
महानंद की मधुर उमंग !
चिर शाश्वत की अस्थिर लास !

मेरे मन की विविध तरंग
रंगिणि! सब तेरे ही संग
एक रूप में मिलें अनंग !

(मई, १९२३)

वह और भी आगे बढ़ जाता है। वह प्रकृति को अत्यंत व्यापक, लगभग निःसीम रूप में चित्रित करना चाहता है। उसने पवन की एक विराट कल्पना की है। पवन न जाने किस महान् शक्ति की वेणु से निकली हुई विश्व-व्यापी श्वास है। स्वयं पवन के झकोरों के शब्दों में—

हम सुदूर की अस्फुट तान,
आकुल कर पथिकों के कान,
विश्ववेणु की-सी झंकार
हम जग के सुखदुखमय गान
पहुँचातीं अनन्त के द्वार।
नभ की-सी निस्सीम हिलोर
डुबा दिशाओं के दस छोर,
हम जीवन-कंपन संचार
करतीं जग में चारों ओर,
अमर अगोचर औ' अविकार!

(मार्च १९२३)

'मौन-निमंत्रण' कविता में पंत ने प्रकृति के सारे खेलों को किसी अज्ञात, अस्पर्श्य, अतीन्द्रिय सत्ता से संबधित किया जो इन खेलों-द्वारा मानव-शिशु का मन बहलाती है और उसे दैवी शक्ति की अनुभूति से भरती है। इस दृष्टिकोण से सारी प्रकृति ही चिन्मय सत्ता का वाह्य रूप-मात्र रह जाती है। कवि आश्चर्य में भर कर कहता है—

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,

दीर्घ भरता समीर निश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार—
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन ?
देख वसुधा का यौवन-भार
गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर-उर-के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
—न जाने सौरभ के मिस कौन
सँदेसा मुझे भेजता मौन !

इस रूप में प्रकृति का चित्रण पहले कभी नहीं हुआ था। पाठकों के लिए यह एक बड़ी समस्या हो गया और पुरानी परिपाटी के आलोचक भी इसे पूर्णतः समझ नहीं सके। कवि की 'विश्ववेणु', 'मौन-निमंत्रण' इत्यादि कविताओं की संदर्भ-हीन पंक्तियां लेकर व्यंगचित्र प्रकाशित किये गये और अनंत की ओर जाते हुए नाविक के रूप में उसका उपहास उड़ाया गया। बात केवल इतनी थी कि इतिवृत्तात्मक वर्णन-प्रधान कविताओं के प्रेमी नये संकेतों को ग्रहण नहीं कर सके। वह रूपों की सीमा के पार के अरूप को देख सकते थे, ऐसा उनके युग में संभव ही नहीं था। उनकी सारी रीति-नीति की मान्यतायें इसकी विरोधी थीं।

कवि को प्रकृति के सम्बन्ध में इस नये भाव की प्रेरणा कहाँ से मिली, यह कहना कठिन है। परन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में थोड़ा बहुत लिखा है। कूर्मांचल प्रदेश के प्राकृतिक वैभव के बीच में उनका जन्म हुआ, इसी प्रकृति के बीच में वे पले-बढ़े। पर्वत की रहस्यमयी, क्षणपरिवर्तित, शाश्वत उपसर्गों से अलंकृत प्रकृति ने एक तीव्र अनुभूति वाले हृदय को अकस्मात् अपने सारे रहस्य, सारी मृदुता, सारे क्रीड़ाविलास से भर दिया तो उसमें

आश्चर्य की कोई बात नहीं है। आधुनिक कवि, भाग २, के 'पर्यालोचन' में कवि ने अपने बालजीवन पर प्रकृति के प्रभाव के सम्बन्ध में इस तरह लिखा है—'कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, मैं घटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकाकी देखा करता था। और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूंद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में सुदूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित-नील-धूमिल, कूर्मांचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाई हुई हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबा कर, कुछ काल के लिए भुला सकती हैं! और शायद पर्वत प्रांत के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चय रूप से अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ मुझे एक ओर सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से मैं अब भी दूर भागता हूँ, और मेरे आलोचकों को यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है।

मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी रूप में वर्तमान है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति की भी माया,
बाले तेरे जाल में कैसे उलझा हूँ लोचन?

—आदि वीणा के चित्रण प्रकृति के प्रति मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति-निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता मिली है, कहीं उससे विचारों की भी प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास दिया है। यद्यपि 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'विश्व-वेणु', 'एक तारा', 'नौका विहार', 'दो मित्र', 'झंझा में नीम' आदि अनेक रचनाओं में मेरे रूप-चित्रण के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली, नारी के रूप में देखा है—

**'उस फैली हरियाली मे,**
**कौन अकेली खेल रही, मा,**
**वह अपनी वय बाली में**

पक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है, तब मैंने अपने को भी नारी-रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारंभिक रचनाओं मे इस प्रकार के हिप्नोटिज़्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

साधारणतयः, प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लगाया है, पर उसका उग्र रूप भी मैंने परिवर्तन में चित्रित किया है। मानव-स्वभाव का भी मैंने सुन्दर ही पक्ष ग्रहण किया है, इसी से मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से हटकर भावी-समाज की कल्पना की ओर प्रवाहित हुआ है। यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है। यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता तो "Nature red in tooth and clay" वाला कठोर रूप, जो जीव-विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर खींचता है। 'वीणा' और 'पल्लव' विशेषतः, मेरे प्रकृतिक साहचर्य काल की रचनायें हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा

की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति-प्रेम के साथ ही, मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी वृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचार-धारा का काफी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूं कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की हद तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

आज चाहे अपने 'वीणा' और 'पल्लव'-काल के प्राकृतिक दर्शन को पंत जी असामाजिक कहे परन्तु इसके संदेह नहीं है कि अपने समय में उनकी प्रकृति-संबन्धी रचनायें बड़ी प्रगतिशील थीं। उन्होंने हिन्दी प्रकृति-काव्य के ज्ञान और अनुभूति के क्षेत्र का विस्तार किया, परन्तु साथ ही काव्य के सामान्य धरातल को भी प्रभावित किया। प्राकृतिक जीवन को उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं, नीति और पृष्ठभूमि—सभी के लिए खोज डाला गया। अब तक प्रकृति के प्रति कवि की सहानुभूति इतनी जाग्रत नहीं थी कि वह उसके अंतरतम में प्रवेश कर सकता। प्रकृति के हृदय की कुंजी अब उसे मिल गई। पंत की इन प्रारंभिक कविताओं का इतना अनुकरण हुआ कि कुछ दिनों में ही पाठकों को इस तरह की कविताओं से चिढ़ हो गई। परन्तु इसमें पंत का कोई दोष नहीं था। जो हो, यह निश्चित था कि इस नास्तिकता-जड़ित युग में प्रकृति-प्रेम ईश्वर-प्रेम का पर्याय-वाची बन सकता है। वही मनुष्य को प्रतिदिन के कर्दम से ऊपर उठा कर सृष्टि-व्यापी अर्न्तदृष्टि दे सकता है। वही उसकी जड़ सूक्ष्म वृत्तियों को चेतन आत्म-शक्ति का रूप दे सकने में समर्थ है। 'पल्लव' की 'बालापन' कविता में पंत ने प्रकृति के प्रति अपनी बालानुभूति को एक बार फिर पकड़ने की चेष्टा की है। उस समय को याद करके उन्होंने कहा है—

स्वर्ग गगन सा, एक ज्योति से
आलिंगित जग का परिचय

वह कहते हैं —

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय संसार,
तारों के विस्मय से विकसित
विपुल भावनाओं का हार;
सरिता के चिकने उपलों-सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन,
वह अजानता की सुन्दरता,
वृद्ध विश्व का रूप नवीन

इस कल्पनामय संसार को हम कला, भाषा और छंद की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्तियों द्वारा अनेक रूप-रंगों और अनेक चित्रों में बँधा पाते हैं।

परन्तु यह तरुण कवि केवल दृश्यमान प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति ही संवेदनाशील नहीं है। उसने अपने मन के छाया - प्रकाश के सहारे प्रकृति की उन रंगरेलियों का भी चित्रण किया है जिनपर तूलिका चलाना सरल नहीं। उदाहरण के लिए, "छाया" पर लिखी उसकी कविता। इस कविता में कवि ने मानसिक वृत्तियों के सहारे प्रकृति के अतंरतम को खोजने की चेष्टा की है। कवि की इतनी भावुकता - पूर्ण सहानुभूति छाया को मिल जाती है कि वह एक निश्चित व्यक्तित्व प्राप्त कर लेती है। कवि कहता है—

ए अवाक् निर्जन की भारति!
कंपित अधरों से अनजान
मर्म-मधुर किस स्वर में गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान?

—ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया-तन, छायालोक,
मुझको भी दे दो मायाविनि !
उर की आँखों का आलोक !

न जाने कल्पना के क्या-क्या उपकरण बटोर कर वह इस छाया-छवि को अलंकृत कर जाना चाहता है :

गूढ़ कल्पना सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी;
बच्चों के तुतले भय-सी,
भू-पलकों पर स्वप्न - जाल-सी,
स्थल सी, पर चंचल जल-सी,
मौन अश्रुओं के अंचल-सी,
गहन गर्त में समतल-सी

—तुम पथश्रांता द्रुपद सुता सी
कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात,
तुहिन अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद वर्ष दिन-रात ?

कवि की सहृदयता का अंत ही नहीं होता। वह छाया ही नहीं, फूलो-पत्तों और पशुपक्षियो से भी अन्यतम संबन्ध स्थापित कर लेता है। मधुपकुमारी से वह निवेदन करता है—

सिखा दो ना, हे मधुपकुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरो से
करा दो ना, कुछ-कुछ मधुपान !

नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित, कवि-सी तुम अपना पाठ
सीखती हो सखि ! जग में घूम;
—सुना दो ना, तब हे सुकुमारि !
मुझे भी ये केसर से गान !

निर्झरी से वह पूछता है —

यह कैसा जीवन का गान
अलि, कोमल कल् मल् टल् मल् ?
अरी शैल-बाले नादान !
यह अविरल कल् कल् छल् छल् ?
मर् मर् कर पत्रों के पास,
रण मण रोड़ों पर सायास,
हँस हँस सिकता से परिहास,
करती हो तुम अलि झलमल !

सच तो यह है कि जितनी सहृदयता पंत को प्रकृति से अपने बाल-जीवन मे मिली होगी उसे कई गुना करके उन्होंने उसे अपने काव्य में लौटा दिया। 'पल्लव' के बाद भी पंत ने प्रकृति पर बहुत लिखा है, परन्तु पल्लव तो हिन्दी कविता में प्रकृति की मुक्ति की ऐतिहासिक गाथा है।

बचपन से ही पंत में थोड़ी बहुत दार्शनिक प्रवृति रही है। 'वीणा' की कुछ कविताओं पर विवेकानन्द और रामतीर्थ की वेदांतिक विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। 'पल्लव' में केवल एक कविता ऐसी है जिसे हम दार्शनिक चिंतन का फल कह सकते हैं। यह कविता 'परिवर्तन' है। परन्तु कितनी ही अन्य कविताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की वृत्ति बड़ी सूक्ष्मदर्शिनी है। उसकी अतलस्पर्शी अंतर्दृष्टि से कोई बात बच नही पाती। उसे अमूर्त्त भावो और मानसिक वृत्तियो से प्रेम है। 'पल्लव'

की दो कविताओं—स्वप्न और अनंग—में उसने मनस्तत्व के विषयों को कविता का आधार बना डाला है। इस विषय में अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों—विशेषतयः शेली की रचनाएँ आदर्श रही होंगी, परन्तु १६-२० वर्ष के तरुण ने जिस प्रकार मन के अँधेरे-उजाले कोनों की खोज की है, वह बड़े साहस और उससे भी बड़ी प्रतिभा का काम है। कवि बड़ी भावुकता से पूछता है—

उस स्वप्नों की स्वर्णसरित का
सजनि! कहाँ शुचि जन्मस्थान,
मुसकानों में उछल-उछल मृदु,
बहती वह किस ओर अजान?
किन कर्मों की जीवित छाया
उस निद्रित विस्मृति के संग?
आँख-मिचौनी खेल रही वह,
किन भावों की मृदुल उमंग?

मुँदे नयन-पलकों के भीतर
किस रहस्य का सुखमय चित्र,
गुप्त वंचना के मादक कर
खींच रहे सखि! स्वर्ण-विचित्र!

जिसने स्वप्नों के विज्ञान का थोड़ा भी अध्ययन किया होगा वह यह जान लेगा कि तरुण कवि की मनोविज्ञान को पकड़ कितनी अच्छी है और उसने अवचेतना के अँधेरे गर्त में छिपे स्वप्नों के रंगमहल का कितना सुन्दर परिचय दिया है। कवि जब कहता है—

मीलित नयनों में अपना ही?
यह कैसा छायामय लोक?
अपने ही सुख-दुख, इच्छाएँ,
अपनी ही छवि का आलोक!

तब वह एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक सत्य को बड़ी सरलता से प्रकाशित कर देता है। यह ऐसी अवस्था है जब कवि स्वयं स्वप्नों में भूल रहा है। वह जगत के कर्मकठोर जीवन के संघर्ष में आना ही नहीं चाहता। चारों ओर उसे एक स्वप्निल रहस्य ही दिखलाई पड़ता है। वह प्रश्न करता है—

सजनि? कभी क्या सोचा तूने
तरुओं के तम में चुपचाप,
दीपशलभ दीपों को चमका
करते जो मृदु मौनालाप?

जलनिधि-की मृदु पुलकावलि-सी
सलिल - बलिकाएं सुकुमार
स्वप्नसिंधु सी उमड़, अतल के
बतलातीं क्या भेद अपार!

अलि! किस स्वप्नों की भाषा में
इंगित करते तरु के पात,
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक स्वप्नों की रात?

'अनंग' शीर्षक कविता मे कवि प्रेम के प्रथम दर्शन और तदनंतर विकास का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। कदाचित् इस विषय पर इतनी सुन्दर कविता विश्वसाहित्य में भी सरलता से नहीं मिलेगी। कवि अनंग (प्रेम-भाव) को ही सृष्टि के आदि में प्रतिष्ठित करता है:

आदि काव्य मे बाल प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत्, हत - ज्ञान
शस्य-शून्य वसुधा का अंचल,
निश्चल जलनिधि, रवि शशि म्लान,
प्रथम हास से, प्रथम अश्रु से
प्रथम पुलक -से, हे छविमान?

स्मृति-से, विस्मय से तुम सहसा
विश्व-स्वप्न से खिले अजान ।
प्रथम कल्पना कवि के मन में,
प्रथम प्रकम्पन उड़गन में,
प्रथम प्रात जग के आँगन में,
प्रथम वसन्त-विभा वन में ;
प्रथम वीचि वारिधि चितवन में,
प्रथम तड़ित-चुम्बन घन में,
प्रथम गान तव शून्य गगन में
फूटा नव यौवन तन में !

इस प्रकार अनंग के जन्म के साथ ही जीवन की सुषुप्ति छूटती है । धीरे-धीरे जीवन की शिरा में नया रक्त प्रवाहित होने लगता है। अनंग भी तरुण होता है । वह पुष्प-धनुर्धर का रूप धारण कर लेता है । कवि कहता है —

तुमने भौंरो की गुंजित ज्या,
कुसुमों का लीलायुध थाम,
अखिल भुवन के रोम-रोम में
केशर-शर भर दिये सकाम ।

जीवन के प्रत्येक कण में नई लालसा, नई गति, नई इच्छा जाग्रत हो जाती है । नर-नारी के हृदय में सपनो का एक नया संसार ही बसने लगता है । संसार की प्रत्येक वस्तु में ज्ञात या अज्ञात रूप से मादन भाव का समावेश हो जाता है । संसार की सारी शोभा, सारा ऐश्वर्य सारी मधुरिमा इस चेतन मादन - भाव का ही विकास है । जान पडता है जैसे भीतर की सुषमा हीबाहर सौन्दर्य का अनेक रूप ग्रहण किये हुए है ।

'पल्लव' का मुख्य कविताओं पर ('परिवर्तन' को छोड़ कर) हम विचार कर चुके। उच्छ्वास' और 'आँसू पर हमने पहले विचार किया है। शेष कविताओं में से अधिकाश या तो प्रकृति पर हैं या मानसिक व्यापारों पर। रहस्यवादी कविता के रूप में ' मौननिमंत्रण ' का नाम लिया जा सकता है। अब हमें कविता के वाह्याग पर विचार करना है।

हम पहले कह चुके है कि पंत को सब के बड़ा श्रेय यह मिलना चाहिये कि उन्होंने कविता के वाह्यांग को बड़े परिश्रम से सँवारा और उनके प्रयत्नों से खड़ी बोली की हिंदी कविता द्विवेदी युग की सीधी-सादी गद्यात्मक कवित्वहीन कविता की श्रेणी से बहुत ऊपर उठकर वहाँ पहुँच गई जहां भाषा, भाव और कला की सारी माधुरी से उसके प्राणों का सिंचन होता है। खड़ी बोली कविता का जन्म १८८४-८५ के लगभग हुआ जब भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'भारतमित्र' और अन्य पत्रों में अपनी कुछ तुकबन्दियाँ छपाई। लगभग १५ वर्ष तक इस ओर कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं हुआ। भारतेन्दु के निधन (१८८५ ई०) के बाद उनके मंडली के सदस्यों ने भी उनके इस प्रयोग को आगे नहीं बढाया। १९०० के लगभग महावीरप्रसाद द्विवेदी के क्षेत्र मे आये। उन्होंने कुमारसंभव के हिंदी अनुवाद (१९०२ ई०) को खड़ी बोली के समर्थक कवियों के सामने रखा। १९०३ ई० में वे 'सरस्वती का काम सँभालने लगे। उन्होने इस पत्र को खड़ी बोली के कवियों के प्रयोगो के लिए खुला छोड़ दिया। अनेक तरुण कवियों ने इस पत्र के पृष्ठों पर अपने प्रयोग किये। न जाने कितने तरुणों के खड़ी बोली पद्य को स्वयं द्विवेदी ने काटा - सँभाला और उनके नाम से प्रकाशित किया। १९०३ ई० से १९१५ ई० तक पद्य का विकास मुख्यतः 'सरस्वती' के माध्यम से ही हुआ। यह सारा समय मुख्यतः भाषा-संस्कार में लगा।

१९१५ ई० के लगभग कुछ नये तरुणों ने खड़ी बोली की कविता के

क्षेत्र मे पदार्पण किया। ये तरुण कवि अग्रेजी के रोमांटिक कवियों से बुरी तरह प्रभावित थे। उसे ही वे काव्य कहते। अन्य सब उनके लिए गद्य था। इन कवियो ने अंग्रेजी ढग पर हिन्दी शब्दावली का प्रयोग करना आरम्भ किया। पहले कवियो का ध्यान भाषा की ओर अधिक था, अब वे मुड़े, परन्तु नई भावव्यजना की अभिव्यक्ति के लिए उन्हे नये ढग पर भाषा का संस्कार भी करना पडा। १६१४ ई०से १६१८ ई०तक स्वानुभूति-निरूपक और व्यक्तित्वप्रधान कितने ही मुक्त गीतो रचना हुई ये कवि थे बदरीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि। ये कवि प्राक्-छायावादी कवि कहे जा सकते हैं। वास्तव में ये द्विवेदी युग की कविता और छायावाद की की बीच कड़ी है।

पंत का प्रारम्भिक काव्य १६१४-५ ये लगभग ही शुरू होता है, परन्तु १६१८ ई० से पहले की लिखी उनकी कवितायें बहुत कम है और साहित्य की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नही हैं। १६१८ ई०से १६२४ तक की रचनायें 'पल्लव' मे संग्रहित हैं। 'पल्लव' की भूमिका से पता चलता है कि कवि इन कविताओ को प्रयाग रूप मे देख रहा है और भाषा, शैली और छद मे उसने महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। नीचे हम इसी परिवर्तन पर विशदता-पूर्वक विचार करेंगे।

पत ने पहली बार काव्य को भाषा के सम्बन्ध मे निश्चितसिद्धांत को सामने रखा और अपने प्रयोगो द्वारा एक निश्चित काव्य-संस्कृति के गढ़ने का प्रयत्न किया। अब तक काव्य की भाषा और गद्य की भाषा मे कोई भेद नही समझा जाता था। द्विवेदी जी का आग्रह था कि काव्य की भाषा और गद्य की भाषा में कोई अन्तर नही है — प्रतिदिन के बोलचाल' की खड़ी बोली ही काव्य मे प्रयुक्त की जाये। काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही रहे या गद्य में प्रयुक्त खड़ी बोली को ही पद्य के लिये भी प्रयुक्त किया जाये, यह समस्या उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे उठ खड़ी हुई थी। १८८५ ई० के लगभग खड़ी बोली पद्य के नये प्रयोगों का आरम्भ हुआ। अगले १५-२० वर्ष प्रयोगों

के वर्ष ही कहे जा सकते है। इसके बाद काव्य का नेतृत्व द्विवेदी जी के हाथ में आया। उन्होने भाषा, शैली (पदावली) और छंद के संबध में निश्चित सिद्धान्तों का आयोजन किया। आरम्भ मे उन्होंने काव्य-भाषा और गद्य-भाषा की एकता पर बल नहीं दिया परन्तु बाद मे वे सरल भाषा के पक्षपाती हो गये। "सुनते है, उनके मन मे उस समय विलियम वर्ड्सवर्थ का यह पुराना सिद्धांत भी कुछ जम गया। वर्ड्सवर्थ अपने इस सिद्धांत पर स्थिर न रह सका, कालातर में उसका यह सिद्धांत असंगत सिद्ध हुआ—उत्कृष्ट कविताओ में उसका पालन नही किया जा सका। द्विवेदी जी ने भी उक्त सिद्धात के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविता मे अनुप्रास व कोमल-कात पदावली का व्यवहार उन्होने किया है, ( द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ की प्रस्तावना )। फिर भी उनके सिद्धातो का उनके समय के खड़ी बोली काव्य पर प्रभाव पड़ा और उसमे गद्यात्मकता की बाढ आ गई। 'कविता - कलाप (१६०६) की भूमिका मे द्विवेदी जी ने लिखा था— 'चित्रकला और कविता का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनो में एक प्रकार का अनोखा साहश्य है। × × कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता के श्रवण से आनन्द होता है; चित्र के दर्शन से। कवि और चित्रकार मे किसका आसन उच्च है इसका निर्णय करना कठिन है, क्योकि किसी चित्र के भाव को कविता - द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनद की वृद्धि होती है, उसी प्रकार से कवितागत भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है। चित्र देखने से नेत्र तृप्त होते हैं, कविता पढने-सुनने से कान। परन्तु स्वयं उन्होंने अपने सिद्धातों और उनके अनुयायियों ने अपने काव्य-प्रयोगों में इस कथन की सत्यता को भुला दिया। इस कथन में भाषा की चित्रात्मकता और नाद-सौन्दर्य पर बल दिया था गया और इन गुणो को काव्य का प्रधान अंग माना गया था।

'पल्लव' की भूमिका में पत ने भाषा-सबन्धी इसी विचारधारा को आगे बढ़ाया। 'भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व

के हृत्तंत्री की झंकार है, जिसके स्वर मे वह अभिव्यक्ति पाता है । पंत ने कहा, युग के नवीन संस्कारों के साथ भाषा-सबन्धी सस्कार भी बदल जाते हैं । प्राचीन परम्परा के उपासकों ने व्रजभाषा के काव्योचित माधुर्य की बात उठाई थी । पन्त ने कहा, इस माधुर्य का मूल कारण उनके अपने हृदयगत संस्कार हैं । उन्होने कहा, व्रज-भाषा की अपभ्र श-प्रवृत्ति अतिसीमा तक पहुँच गई है । उसमें शब्दों की इतनी विकृति हो गई है कि उनको लेकर हम नये युग की संस्कृति को कोई रूप ही नही दे सकते । वह तत्सम शब्दो के प्रयोग की ओर झुके । इस प्रकार उन्होंने सस्कृत शब्द - कोष को हिन्दी की सम्पति बना दिया । पिछले ४००-५०० वर्षों की अपभ्रंश परम्परा को इस तरह एकदम तिलांजलि दे देना बहुत साहस का काम था, परन्तु पन्त में सद् कवियो का साहस कम नही था ।

परन्तु संस्कृत शब्दकोष को हिन्दी काव्य की सम्पत्ति बना कर ही पन्त ने अपने कवि-कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली । सस्कृत के सभी शब्द पन्त को मान्य नहीं थे । वे उन्हीं शब्दों को लाना चाहते थे जो काव्योचित हैं, जो हिन्दी कविता की नई सस्कृति के गढ़ने मे काम आ सकें । उन्होंने कहा— "भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है । प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है ।" इसी रागात्मकता के सहारे उन्होंने काव्योपयोगी शब्दो को छाँटा और उन्हे अपने प्रयोग से सुचारु बनाया एक ही समानवाची शब्दों को उन्होने संगीत-भेद के सहारे नये-नये अर्थ देना चाहे । उन्होंने कहा—'भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है । ऐसे ही हिलोर में उठान, लहर में सलिल के वक्ष - स्थल की कोमल कंपन, तरंग में लहरों के समूह का एक दूसरे को ढकेलना, उठकर गिर पड़ना 'बढ़ो बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है ; वीचि से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले - हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, ऊर्म्मि से मधुर-मुखरित हिलोरों का हिल्लोल-किल्लोल से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई

उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिये भारी लगता है; जैसे किसी ने पंछी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार बार नीचे गिर पड़ता हो, अँगरेज़ी का "Wing" जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलत जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता हैं उसका चित्र हो व्रजभाषा के परस में छूने को कोमलता अधिक विद्यमान है... इत्यादि"। इस तरह का शब्दाभास ( Word-sense) मुख्यतः भावात्मक होता है। उसे वैज्ञानिक आधार पर स्थित करना कठिन है। परन्तु यह निश्चित है कि काव्य में विभिन्न साम्यवाची शब्दों का विभिन्न स्थानो पर प्रयोग होता है। प्रत्येक प्रतिभावान कवि भाव और भाषा में सामंजस्य के स्थापित करने की चेष्टा करता है। पन्त ने इस सामंजस्य द्वारा ही हिन्दी-काव्य में अपना अलग व्यक्तित्व बनाया है। उन्होंने शब्दों के बड़े समर्थ और सार्थक प्रयोग किये हैं।

शब्दों के नवीन प्रयोग के बाद पदावली में नवीन प्रयोग की बात आती है। इसका संबन्ध अलंकारों के प्रयोग से है। व्रजभाषा - काव्य में अलकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है, परन्तु उस तरह का प्रयोग पंत को पसन्द नहीं। व्रजभाषा-काव्य के अलंकारो के प्रयोग को उन्होंने अनुप्रासों की अराजकता तथा अलंकारों का व्यभिचार कहा है परन्तु वे अलंकारों के विरोधी नहीं हैं। 'पल्लव' के सौन्दर्य का एक बड़ा कारण श्रुत्यानुप्रासों का प्रयोग है। पंत ने उन्हें वाणी के हास-अश्रु, स्वप्न - पुलक, हाव- भाव कहा है। वे कहते हैं—"जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्च्छनाएं केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह में विशेष राग का स्वर प्रगट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और

सामञ्जस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहां उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष, अपह्नुति गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते हैं वहां काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर-रक्षक तथा राजकर्मचारी शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ संग्रहीत कर स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।" ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कवि अलंकार को महत्ता देते हुए भी उसे सर्वोपरि नहीं रखता।

कवि के अनुसार काव्य की विवेचना करते हुए संगीत की विवेचना करना भी आवश्यक हो जाता है। काव्य में संगीत की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह छन्द से बँधा हुआ है। कवि कहता है—कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ट संबन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कंपन; कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बंधनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पंदन-कंपन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। कवि संस्कृत छंदों के संगीत से हिन्दी कविता के संगीत को भिन्न श्रेणी की चीज मानता है। उसका कहना है कि संस्कृत का संगीत समास-संधि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृंखलाकार, मेखलाकार हो गया है; उसमें दीर्घ श्वास की आवश्यकता है। इसी मैत्री के कारण उसमें वर्णवृत्तों का आविर्भाव हुआ। उसका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि संस्कृत के छंदों में अंत्यनुप्रास की आवश्यकता नहीं। हिन्दी का संगीत लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल झंकारों का छेकानुप्रास है। उसमें प्रत्येक शब्द का स्वतंत्र हृत्कंपन है।

इसीलिए कवि हिन्दी कविता मे मात्रिक छन्दो का प्रयोग ही कविता का स्वाभाविक विकास मानता है। वर्णवृत्तो मं हिन्दी की काव्य-प्रकृति सुरक्षित नहीं रह सकती। ऐसा उसे विश्वास है। वह बंगला के छदों को हिन्दी संस्कारो का विरोधी मानता है। वह सवैये और कवित्त छदों को भी हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध समझता है। ब्रजभाषा - काव्य के प्रधान छंद कवित्त और सवैये ही थे। यह स्पष्ट है कि वर्ण - वृत्तो, बगला-छदों और कवित्त-सवैयों को छोड़ कर कवि को कोई नया मार्ग ढूंढना है। उसका कहना है: "हिन्दी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतयः उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छंद में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल, तथा विस्तार मिलता उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है; दोनो में अधिक अंतर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता एवं विशेषता है।" कवि का कहना है कि हिन्दी सगीत-संगति की रक्षा मात्रिक छदों में ही हो सकती है, वर्णवृत्तों में नहीं। काव्य-संगीत के मूल तंतु स्वर हैं, न कि व्यंजन। 'जिस छंद में स्वर-संगीत की रक्षा की जा सकती, उसके संकोच - प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमें राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य पूर्ण रूप से मिलता है। वार्णिक छदो में स्वर-संगीत की रक्षा संभव नहीं है। इसीलिए वर्णवृत्तो को कवि श्रेष्ठ काव्य के लिए अनुपयोगी समझता है। उसने कई मात्रिक छंदों की विशद व्याख्या की है। रोला, मालिनी पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, प्लवङ्गम, राधिका, अरिल्ल छंद उसे विशेष प्रिय हैं। वह इनमे से प्रत्येक छंद का किसी न किसी रस से संबंध जोड़ देता है। वास्तव में वह वैज्ञानिक की दृष्टि से छदों को नहीं देखता। उसकी दृष्टि भावुक है। उदाहरण के लिए—'रोला और रूपमाला दोनों छंद चौबीस मात्रा के हैं पर इन दोनों की गति में कितना अंतर है ? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की

रुकावटों को लाँघता हुआ तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिन भर के काम-धंधे के बाद अपनी नहीं थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह चिंता में डूबा हुआ नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर आता है। राधिका मे ऐसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीड़ाप्रियता अपने ही परदों में 'गत' बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चंचल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग-संगियो में उठती-झुकती, कोमल कंठ स्वर में गा रही है। इस छंद में जितनी ही अधिक भाषाएँ रहेगी, इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।" परन्तु इस तरह की भावुकता के पीछे जो कलात्मक दृष्टिकोण है उसे अस्वीकार नही किया जा सकता।

मुक्तक या स्वच्छंद छंद के विषय में कवि के अपने स्वतन्त्र विचार हैं। वह अपनी प्रसिद्ध कविता 'उच्छ्वास' ( १९२१ ) को स्वच्छन्द छन्द की पहली कविता मानता है। अपने स्च्छन्द छन्द को व्याख्या करता हुआ वह कहता है : "यह स्वच्छन्द छन्द, ध्वनि अथवा लय (**Rhythm**) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर नाद में उतरता, चढ़ाव में मंद गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता-छाँटता, अपने लिए ऋजु-कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घगति बदलता रहता है। "इस मुक्त-छन्द की विशेषता यह है कि इससे भाव तथा भाषा का सामन्जस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकेगा"। परन्तु पंत का यह स्वच्छन्द छन्द, केवल मात्र लय के आधार पर चलता हुआ निराला का 'मुक्त छन्द' नहीं है। निराला के मुक्त छन्द के संबन्ध में पंत का मत है—'उनके कुछ छन्द बँगला की तरह अक्षर-मात्रिक राग पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार मिश्रित हैं कि उनमे कोई भी नियम नहीं चलता। जहाँ पर उनकी कविता

ह्रस्व-दीर्घ संगीत पर चलती, उनकी उज्ज्वल भावराशि उनके रचना-चातुर्य के सूत्र मे गुंथी हुई, हीरो के हार की तरह चमक उठती है। किन्तु जहाँ पर वह बँगला के अनुसार चलती वहाँ उसका राग हिन्दी के लिये अस्वाभाविक हो जाता है। निराला का अधिकाश मुक्त काव्य अक्षरमात्रिक संगीत पर आश्रित होने के कारण बँगलापन लिये है। उसमें हिन्दी की सहज प्रतिभा का उद्घाटन नहीं हो सका है। इसी लिये वह पत को अप्रिय है। स्वयम् उनका स्वच्छन्द छन्द मुक्त छन्द, और साधारण छन्द के बीच की चीज है। उसमे कवि विभिन्न मात्रिक छन्दों के पदों का प्रयोग करता है, परन्तु सुविधानुसार कहीं कही कोई पद छोटा हो जाता है, कोई बड़ा। व्यर्थ के शब्दों को भर कर पाद-पूर्ति का प्रयत्न नही किया गया है। उदाहरणार्थ उनकी यह प्रसिद्ध पंक्तियाँ—

**देखता हूँ जब, उपवन**
**पियालों में फूलों के**
**प्रिये! भर-भर अपना यौवन!**
**बुलाता है मधुकर को!**
**नवोढ़ा बाल-लहर**
**अचानक उपकूलों के**
**प्रसूनों के ढिंग रुककर**
**सरकती है सत्वर;**
**अकेली आकुलता-सी, प्राण,**
**कहीं तब करती मृदु आघात,**
**सिहर उठता कृश गात,**
**ठहर जाते हैं पग अज्ञात!**

इन पक्तियों में अत्यंत कलात्मक ढंग से चरणों को छोटा-बड़ा कर दिया गया। उन्होने अपने स्वच्छंद छन्द के लिये रोला और पीयूष-वर्षण का

ही अधिक प्रयोग किया है। 'जहाँ भावना का क्रिया-कंपन तथा उत्थान-पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रचारित रहती, वहा रोला आया है; अन्यत्र सोलह मात्रा का छन्द। बीच-बीच मे छन्द की एकस्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिये गये हैं।' आधुनिक कवियों मे छंद का सबसे अधिक कलात्मक प्रयोग पंत जी के काव्य में ही मिलता। उनका स्वच्छन्द छन्द उनकी कलाप्रियता और कलाकुशलता का सुन्दर उदाहरण है।

रह गई शैली की बात। पंत की काव्य-शैली इतनी व्यक्तिगत है कि उसका अनुकरण करने वालों का एक दल 'पंत स्कूल' ही बन गया। शब्दों के चुनाव, पदों की भंगिमा और क्रिया-पदों की योजना में उनका एक निश्चित पथ रहा है। उनका अधिकांश काव्य तत्सम - प्रधान है परन्तु हरिऔध आदि के काव्य की तरह वह एकदम संस्कृत-गर्भित नहीं है। कवि स्वयं कहता है: 'समासो का भी अधिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता। समास का काम तो व्यर्थ बढ कर इधर-उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दो की टहनियो को काट-छाँट कर उन्हे सुन्दर आकार-प्रकार देना तथा उनकी मांसल हरीतिमा में छिपे हुये भावो के पुष्पों को व्यक्त भर कर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूंठी तथा श्रीहीन हो जाती है।' परन्तु इससे संदेह नहीं कि छायावाद काव्य में सबसे अधिक तत्समता पंतजी ने ही भरी है और इस बात के लिये कुछ आलोचक उन्हें लांछना भी देते रहे हैं। इस तरह हिन्दी की अपनी प्रतिभा, अपनी शक्ति, अपनी चतेनता का लोप हो जाता है। परन्तु यह भी निश्चित है कि संस्कृत शब्दो के सुन्दर और सारगर्भित प्रयोग के कारण ही पंत के काव्य को इतनी शीघ्र प्रौढ़ता प्राप्त हो सकी है। उनके साथी कवियों के काव्य में बहुत कुछ अ-प्रौढ़ और अटपटा लगता है, परन्तु पंत के काव्य में दुर्बल पंक्तियाँ लगभग हैं ही नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत के काव्य में आधुनिक काव्य के

वाह्य उपकरणों का इतना परिवर्तन हो गया है कि वह स्वतः एक अलग श्रेणी बन गया है। भाषा, पदावली और छंद तीनों के क्षेत्र में यह परिवर्तन हुआ है। इसने पंत के काव्य को जहाँ व्यक्तित्व प्रदान किया वहाँ उनके विरोधी भी पैदा किये। परन्तु पंत के काव्य का वाह्य रूप ही क्रांतिकारी नहीं था, उन्होंने कविता के अभ्यांतर में भी अनेक परिवर्तन किये थे। कल्पना का जितना ऊहापोह उनके काव्य में है, विशेषतः 'पल्लव' में उतना समसामयिक कविता में और कहीं नहीं मिलेगा। तीन वर्ष पहले का पाठक, द्विवेदीयुग की अतिनैतिकता में पला हुआ पाठक, इस कल्पना के ऊहापोह के नीचे इतना दब गया कि उसे समझ ही नहीं आया कि क्या करे! 'बादल' पर लिखी पंत की ये पंक्तियाँ पढ़िये—

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल-फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल;
नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल-भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल।
व्योमबेलि, ताराओं की गति,
चलते अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तंद्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;
पवन-धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल-अनल के विरल वितान,
व्योम पलक, जल-खग, बहते थल,
अंबुधि की कल्पना महान।

रूप-साहश्य की पर्वा न करते हुए कवि ने दूर की कौड़ी लाकर बादलों को न जाने क्या-क्या बनाया है। इसी तरह 'नक्षत्र' कविता में नक्षत्रों को नश्वरता के लघु बुदबुद, काल-चक्र के विद्युत्कन, स्वप्नों के नीरव चुम्बन, तहिन दिवस, आकाश, कुसुम, निशा का नदनवन, शशि-शावक, मूर्छित आतप, शीतानल इन्दुदीप से दग्ध शलभ शिशु, शुचि उलूक न जाने क्या २ बनाया है। कल्पना का यह उच्छृखल प्रसार काव्य को हास्यास्पद बना देता है। अभी एक चित्र पूरा-पूरा सामने नहीं आता कि दूसरा चित्र उठ खड़ा होता है। इसी तरह तीसरा, चौथा और पाँचवाँ।। पाठक किसी भी चित्र का पूरा-पूरा भाव ग्रहण नहीं कर पाता। उसकी कल्पना थक जाती है। सारी कविता उसके लिए आश्चर्यजनक चमत्कार से अधिक अर्थ नहीं रखती परन्तु धीरे-धीरे कवि ने कल्पना और कला में सयम की प्राप्ति कर ली है और 'पल्लव' की अंतिम कविता 'परिवर्तन' में हम विचार और कल्पना का बड़ा सुन्दर संतुलन पाते हैं। आगे चलकर 'गुंजन' की कविताओं में यही सतुलन और भी विकसित हुआ है।

'पल्लव' की अतिम कविता 'परिवर्तन' पर अलग से विचार करना ठीक होगा। यह कविता लम्बी है और इसमें 'पल्लव' की बाल-कला से कवि बहुत आगे बढ़ गया है। अब वह जीवन से अपना नाता जोड़ना चाहता है। 'पल्लव' की अधिक कविताओं में कवि कल्पना, प्रकृति या प्रेम से लिपटा हुआ है। इन कविताओं में कवि के चिंताशील व्यक्तित्व का जरा भी पता नहीं। कल्पना का ऊहापोह और कला का अत्यंत व्यक्तिगत रूप ये 'पल्लव' की विशेषताएँ हैं। परिवर्तन में कवि का संयम देखने योग्य है :

**किसी को सोने के सुख-साज**
**मिल गए यदि ऋण भी कुछ आज**
**चुका लेता दुख कल ही व्याज,**
**काल को नहीं किसी की लाज!**

विपुल-मणि-रत्नों का छवि जाल,
इंद्र-धनु की-सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत् ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल,
मोतियों-जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार !

यहां भाषा-भाव का जो सामंजस्य है, वह अपूर्व है। कहीं-कहीं कवि भाषा का आडंबर छोड़ ऐसे समतल पर उतर आया है कि उसके कथन में महान् सत्य जैसे का तैसा अपने स्वाभाविक रूप में भासमान हो उठा है। कवि कहता है—

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार,
दीन-दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा और प्यार !

इस से सरल पंक्तियाँ और क्या होंगी ! परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि कवि कल्पना की बड़ी उड़ानें नहीं ले सकता। परिवर्तन की कल्पना सूत्रधर के रूप में—

परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरंतर,
अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर !
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणातर
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट अगोचर;
शिक्षा-स्थल यह विश्व-मंच, तुम नायक नटवर,
प्रकृति नर्तकी सुघर
अखिल में व्याप्त सूत्रधर !

परंतु कवि और भी आगे बढ़ कर महान शास्ता के रूप में परिवर्तन की कल्पना कर सकता है —

हे अनंत हृत्कंप ! तुम्हारा अविरत स्पंदन
सृष्टि-शिराओं में संचारित करता जीवन;
खोल जगत के शत-शत नक्षत्रों से लोचन,
भेदन करते अंधकार तुम जग का क्षण-क्षण;
सत्य तुम्हारी राज-यष्टि; सन्मुख नत त्रिभुवन,
भूप-अकिंचन;
अटल शान्ति करते नित पालन !

सच तो यह है कि परिवर्तन में कवि ने एक महान् विषय को अपनाया है और उसे ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और कल्पना की गहरी भित्ति दी है। उसमें इतना भावान्मेष है कि वह हमें बड़ी सरलता से मुग्ध कर देता है। उसके छंद भावों की तरह ही उठते-गिरते और अत्यंत शीघ्रता से बदलते रहते हैं। भावों का परिवर्तन कविता के अनुरूप ही है। कहीं मानव-जीवन की सुखस्फूर्ति का वर्णन है, कहीं उसके दुख-दैन्य का। बड़ी समर्थ भाषा में कवि हलके-कोमल और भयंकर विस्फोटक भावों को छंद-बद्ध कर सका है:

बहा नर - शोणित मूसलधार,
रुण्ड-मुण्डों की कर बौछार,
प्रलय-घन सा घिर भीमाकार !
गरजता है दिगंत संहार
छेड़ खर शस्त्रों की झंकार
महाभारत गाता संसार !
कोटि मनुजों के निहित अकाल,
नयन-मणियों से जटित कराल
अरे दिग्गज सिंहासन-जाल

**अखिल मृत देशों के कंकाल;**
**मोतियों के तारक-लड़-हार**
**आँसुओं के शृंगार !**

कहीं २ वह लोकोक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग कर पाया है:

**यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,**
**अरे, जग है जग का कंकाल !**

भाषा और भाव का इतना रसानुकूल उतार-चढ़ाव साधारण कवि के बस की बात नहीं। शोक का विषय है कि पंत ने परिवर्तन की कला का प्रयोग फिर नहीं किया। नहीं तो विश्व-जनीन भावों पर कुछ बहुत ही सुन्दर कविताएं हिंदी की सम्पत्ति बन जाती। परंतु इसमें संदेह नहीं है कि परिवर्तन अपने ढंग की इकेली कविता है और आधुनिक काव्य के किसी भी संग्रह में उसे नहीं छोड़ा जा सकता। इस कविता में बाल-कवि ने तारुण्य में प्रवेश किया है और वह स्वयं कल्पना के नक्षत्र-भवन से निकल कर जीवन के सुख-दुख पूर्ण चिंता-मधुर क्रोड़ में आ गया है।

# ३

## प्रौढ़ छायावादी रचनायें-'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और 'युगांत'

अब तक की कविताओं में हम पत को कल्पना-जीवी कवि और चतुर शब्द-शिल्पी के रूप में जानते हैं। 'परिवर्तन' शीर्षक एक लबी कविता को छोड़ कर और कहीं गंभीर चिंतन के चिह्न दिखलाई नहीं पड़ते। इसीसे गुंजन से हम कवि की रचना का नया युगांतर पाते हैं। 'पल्लव' की अंतिम कविता मे कवि ने अपने बाल स्वप्नों से विदाई ले ली है :

**स्वस्ति जीवन के छाया-काल !**
**सुप्त स्वप्नों के सजग सकाल !**
**मूक मानस के मुखर मराल !**
**स्वस्ति, मेरे कवि बाल !**
**तुम्हारा मानस था सोच्छ्वास,**
**अलस-पलकों में स्वप्न-विलास,**
**आँसुओं की आँखों में प्यास,**
**गिरा में था मधुमास !**
**(१६२५)**

वह छाया-काल से बाहर निकल आता है और सुख-दुख, जन्म-मरण जैसे गहरे प्रश्नो पर विचार करने लगता है। प्रकृति के प्रति उसका दृष्टि-कोण अधिक संयत हो जाता है। अब वह कल्पना का खिलवाड़ नहीं करता जीवन उसे चारों ओर से घेरने लगता है। परंतु इस जीवन का अर्थ आर्थिक और राजनैतिक जीवन नहीं है। यह है अंतरतम का जीवन, चिंतन और जिज्ञासा का जीवन। प्रकृति के नाश और परिवर्तन ने जहाँ कवि में जीवन

की नश्वरता और अवसाद के स्वर उठाये हैं, वहाँ प्रकृति का उल्लास उसे जीवन की मूल प्रवृत्ति जैसा लगता है। 'गुंजन' की कविताओं में कवि सुख-दुख, हर्ष-विषाद और जन्म-मरण जैसे शाश्वत विषयों पर विचार करता है। वह कल्पना के सत्य से आत्म - चिंतन और आत्म-दर्शन के सत्य की ओर बढ़ रहा है।

'गुंजन' को स्वयं पंत ने अपने प्राणों का उन्मन गुंजन मात्र कहा है। 'उन्मन गुंजन मात्र'—अर्थात् कवि अभी आत्मचिंतन में ही तल्लीन है। वह अभी अपने तथ्यों के प्रकाशन - सबन्ध में संकोची है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसमें जीवन के प्रारम्भिक और मौलिक प्रश्नों पर बड़ी गंभीरता से विचार किया है। गुंजन के विषय हैं आत्मचिंतन, प्रेम और प्रकृति। इनमें पहला विषय ही अधिकांश रचनाओं में व्याप्त है।

'पल्लव' और 'गुंजन' के बीच में कवि को क्षयरोग-ग्रस्त होकर मृत्यु शय्या तक पहुँच जाना पड़ा था। पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कवि से हम जीवन के नये स्पर्श और नई मंगलाशा की ही आशा रख सकते हैं। सारा जग-जीवन ही उसे सुन्दर और मंगलमय जान पड़ता है। सहसा वह गा उठता है—

सुन्दर मृदु-मृदु रज का तन,
चिर सुन्दर सुख-दुख का मन,
सुन्दर शैशव-यौवन रे
सुन्दर-सुन्दर जगजीवन।
सुन्दर वाणी का विभ्रम,
सुन्दर कर्मों का उपक्रम,
चिर सुन्दर जन्म-मरण रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन!
सुन्दर प्रशान्त दिशि-अंचल,
सुन्दर चिर-लघु, चिर नव पल,

सुंदर पुराण-नूतन रे
सुन्दर-सुंदर जग-जीवन।

यही नहीं, वह आशा करता है कि यह सौन्दर्य कभी कम नहीं होगा। जीवन सुन्दरता से अधिक सुन्दरता की ओर बढ़ता जायगा। पूर्णता-जैसी किसी वस्तु की वह कल्पना भी नहीं करता—केवल आदर्श सुन्दरता की ओर क्रमिक विकास। यही जीवन का मौलिक तत्व है। सिद्धांत - रूप से हमें इस विषय में कुछ नहीं कहना है। कवि का आशावाद इस समय इतना दृढ़-सकल्पी और इतना मुखर है कि वह दुःखवाद और निराशा को ज़रा भी स्थान नहीं देता। वह कहता है—

सुंदर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पंदन।

परंतु जिस तरह सुख है उस तरह दुख भी जीवन का सत्य है। उसे भी एकदम आँख की ओट करना संभव नहीं है। कवि जीवन की विषमताओं का उचित समाधान नहीं पा रहा है। इसी से वह आकुल और उन्मन है। परन्तु इस उन्मनता के कारण को वह पूरा-पूरा समझ नहीं पाता। इसी से वह अपने को एक भुलावा देना चाहता है। वह दुखी इसलिए है कि मानव जीवन अपूर्ण है—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन!

दुख के प्रति ऐसा दृष्टिकोण बहुत कुछ रहस्यवादी हो जाता है। कवि कहता है—

जाने किस छल-पीड़ा से
व्याकुल-व्याकुल प्रतिपल मन;
ज्यों बरस-बरस पड़ने को
हों उमड़-उमड़ उठते घन !

उसके लिए यह दुख ही स्वाभाविक हो जाता है। उसे वह भावी सुख के लिए आवश्यक समझ लेता है :

दुख इस मानव-आत्मा का
रे नित का मधुमय-भोजन,
दुख के तम को खा-खाकर
भरती प्रकाश से वह मन।

वास्तव में यह दुःख की भावना ही मिथ्या है। यह भावना इसलिए है कि हम जीवन से अधिक माँगते हैं या कम। ये आधी अति-इच्छाएँ मनुष्य की शाश्वत चिदानंद स्थिति को आघात पहुँचाती हैं। इनसे बचने का केवल एक ढंग है—सम्यक् इच्छा या 'सम-इच्छा'। सुख-दुख के प्रति मनुष्य तटस्थ रहे। वह निष्काम भाव से कर्म करता जाय। इस तरह उस के जीवन में संतुलन का जन्म होगा। तब दुःख दुःख नहीं रह जायगा।

पर सुख-दुख के बीच पटरी बैठाने का केवल यही ढंग नहीं है। मनुष्य यह समझे कि सुख-दुःख एक उसी शाश्वत जीवन की दो भिन्न अभिव्यक्तियां हैं। सुख है जीवन सागर के ऊपर शाश्वत किरणों का खेल, दुख है सागर के हृदय के भीतर का गंभीर अवसाद। जीवन के नाते दोनों ही मनुष्य को प्रिय होना चाहिये :

सागर की लहर लहर में
है हास स्वर्ण किरणों का,
सागर के अन्तस्तल में,
अवसाद अवाक् कणों का !

यह जीवन का है सागर,
जगजीवन का है सागर;
प्रिय प्रिय विषाद रे इसका,
प्रिय प्रि आह्लाद रे इसका !

इसी नाते मनुष्य दुःख को अपना सके। कवि अपने दुःख पर लज्जित है। वह कहता है—

बन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना

दुख को भी मनुष्य जीवन का एक अंग माने।—यह दृष्टिकोण बहुत कुछ व्यक्तिगत दृष्टिकोण रह जाता है। इससे संसार के दुःखों का नाश तो होता नहीं। चारो ओर उमड़ते हुए दुख के समुद्र में मनुष्य क्या करे? वह कैसे निःस्पृह रहें? कवि केवल यह आशा करता है कि मनुष्यों के जीवन में सुख-दुख का ठीक-ठीक संतुलन स्थापित हो सके :

मैं नहीं चाहता चिर-सुख;
मैं नहीं चाहता ।चिर-दुख;
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण;
फिर घन से ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से,

**मानव-जग में बँट जावें**
**दुख सुख से औ' सुख दुख से।**

परंतु यह संतुलन किसी एक मनुष्य की मंगलाशा से तो स्थापित होगा नहीं। अभी कवि ने इसे नहीं समझा है—बाद में समझा है। 'युग-वाणी' इसका प्रमाण है। परन्तु व्यक्तिगत रूप से वह बराबर इस संतुलन के प्राप्ति की साधना कर रहा है। चार पंक्तियों में उसका जीवन-दर्शन इस प्रकार है—

**अस्थिर है जग का सुख-दुख,**
**जीवन ही नित्य चिरंतन!**
**सुख-दुख से ऊपर, मन का**
**जीवन ही रे अवलम्बन!**

'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और 'युगांत' में कवि ने इसी मन के जीवन को वाणी देना चाही है।

'गुंजन' के कवि का शाश्वत जीवन में विश्वास है। जो यहां है, वह सदैव ही नाश को प्राप्त होता हुआ जान पड़ता है। परन्तु वस्तुतः कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। यह जीवन न जाने कब, किस स्रोत से, कैसे गतिमान हुआ, परन्तु अब इसकी गति, इसका प्रवाह शाश्वत है। कवि कहता है—

**इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,**
**शाश्वत है गति, शावश्त संगम।**
**शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,**
**शाश्वत लघु लहरों का विलास।**
**हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार**
**शाश्वत जीवन नौका-विहार।**
**(नौका-विहार)**

इस शाश्वत जीवन में ,जो कुछ भी है वह सब आकांक्षा के सूत्र से बँधा हुआ नाच रहा है। इस आकांक्षा के बंधन को तोड़ना सरल नहीं है। इसे तोड़ना तभी संभव है जब मनुष्य तटस्थ हो जाये, अपने में ही डूबा रहे, अपने ही स्वरूप में स्थित हो सके। साधारणतः ऐसा संभव नहीं है। यहां तो आकांक्षा के प्रवाह में बह जाना ही सत्य है :

**आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग**
**मानता नहीं बन्धन-विवेक।**
**चिर आकांक्षा से ही थर थर, उद्वेलित रे अहरह सागर,**
**नाचती लहर पर हहर लहर।**
**अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उड़गन**
**दुस्तर आकांक्षा का बन्धन!**
**(एक तारा)**

नई-नई इच्छाओं के दल नित्य खुलते ही रहते हैं, नये-नये बंधनों में जीवन नित्य बँधता ही रहता है—

**खुल खुल नव-नव इच्छाएँ**
**फैलातीं जीवन के दल,**
**गा-गा प्राणों का मधुकर**
**पीता मधुरस परिपूरण!**

कवि को इन्हें अस्वीकार नहीं करना है। परन्तु उसे तप और संयम का जीवन ही अधिक प्रिय है। इच्छाओं के रंगीन फूल उसे आकर्षित करते हैं परन्तु तप और साधना में ही उसे जीवन की पूर्णता का आनंद आता है। अपने मन के स्वर्ण को तपा कर वह अपने ढंग पर जीवन की मूर्ति गढ़ना चाहता है। वह गाता है :

**तप रे मधुर-मधुर मन!**
**विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,**

जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन।
अपने सजल स्वर्ण से पावन,
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन.
ढल रे ढल आतुर-मन।

'ज्योत्स्ना' में अपने मन के अनुरूप गढ़ी जीवन की मूर्ति की एक झांकी पंत ने दी है। जहां तक मनः-स्वप्न और कल्पना का सबंध है, यह मूर्ति अत्यंत आकर्षक है, परन्तु उसे स्थूल भूमि नहीं मिली है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे कवि ने मार्क्सवाद और गांधीवाद के समन्वय के द्वारा अपने स्वप्न को यथार्थ का आधार देना चाहा है और वह उसमें बहुत कुछ सफल भी हुआ है।

'गुंजन' का दूसरा विषय है प्रेम। द्विवेदी-युग के कवियों में ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने प्रेम के स्वस्थ और संयत गीत गाये हों। पंत की कविता का आधार प्रेम के गीतों से हुआ है। 'ग्रंथि','उच्छ्वास' और 'आँसू' के बाद 'गुंजन' के प्रेम के चिर-परिचित चित्र बड़े मोहक लगते हैं। उनके पीछे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है, परन्तु ये निर्वैयक्तिक गीत भी कवि की कल्पना और संकल्पात्मक अनुभूति के कारण बड़े प्रिय हैं। 'मधुबन' और 'भावी पत्नी के प्रति' कविताएँ इन प्रेम-कविताओं को सब से सुन्दर मणियाँ हैं। 'मधुबन' में कवि ने बसंत के व्याज से नायिका के सौन्दर्य, उसके अंग-प्रत्यंग और मिलनोल्लास का वर्णन किया है। कवि कहता है :

आज लोहित मधु-प्रात
व्योम-लतिका में छायाकार
खिल रही नव पल्लव-सी लाल,
तुम्हारे मधुर कपोलों पर सुकुमार

लाज का ज्यों मृदु किसलय जाल !
आज उन्मद मधुप्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण !

प्रकृति का सारा मधु-हास प्रेयसी की सुषमा का ही तो विस्तार है—

प्रिये, कलि-कुसुम-कुसुम में आज
मधुरिमा मधु, सुखमा सुविकास,
तुम्हारी रोम-रोम छवि-व्याज
छा गया मधुवन में मधुमास।

प्रकृति के मिलनोल्लास के बीच वह प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम-मिलन के गीत गाता है :

गंध-गुंजित कुंजों में आज
बँधे बांहों में छायालोक,
छजा मृदु हरित छंदों का छाज,
खड़े द्रुम, तुमको खड़ी विलोक।
मिल रहे नवल बेलि-तरु, प्राण !
शुकी-शुक, हंस-हंसिनी संग,
लहर-सर, सुरभि-समीर विहान,
मृगी-मृग, कलि-अलि, किरण-पतंग।
मिलें अधरों से अधर समान,
नयन से नयन, गात से गात,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
भुजों से भुज, कटि से कटि शात।

आज तन-तन, मन-मन हों लीन,
प्राण ! सुख-दुख, स्मृति-स्मृति चिरसात,
एक क्षण, अखिल दिशावधि-हीन,
एक रस, नाम-रूप अज्ञात ?

इस प्रेम में न अतीन्द्रियता है, न पलायन। प्रेम के बन्धन को कवि पूर्णतः स्वीकार करता है। वह उसे आकाश से उतार कर गृहीजनों के बीच स्थापित करना चाहता है। इसी लिए उसकी प्रेमी-जीवन की अनुभूति अत्यंत सरल और सुपरिचित है। आज जान पड़ा जैसे सब कुछ बदल गया है। कवि प्रेयसी के प्रश्न करता है—

मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण !
मुसकुरा दी थी आज विहान ?
आज गृह-वन-उपवन के पास
लोटता राशि-राशि हिम-हास,
खिल उठी आंगन में अवदात
कुंद कलियों की कोमल प्रात।
मुसकुरा दी थी, बोलो, प्राण !
मुसकुरा दी थी तुम अनजान !

वह उसे गृहकाज से विरत करके केवल अपने तक सीमित रखना चाहता है। इसीसे वह प्रेयसी से अनुनय-विनय करता है—

आज रहने दो यह गृह-काज,
प्राण ! रहने दो यह गृह-काज !
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास,
प्रिये, लालस-सालस वातास,
जगा रोओं में सौ अभिलाष।

प्राचीन कवियों की नारी-सौन्दर्य-संबंधी कल्पना से इस कवि की सौन्दर्य-कल्पना नितांत भिन्न है। जहाँ प्राचीन कवि परपरागत उपमानों को लेकर उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की एक झड़ी ही लगा देता है वहाँ आधुनिक कवि किसी एक उपमा विशेष को चुन लेता है और उसके आधार पर कल्पना और अनुभूति का महल खड़ा कर लेता है। प्रेयसी की आँखों को संबोधित कर कवि कहता है–

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश—
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! इनमें खग अज्ञान !

देख इनका चिर करुण प्रकाश,
अरुण-कोरों में उषा विलास,
खोजने निकला निभृत निवास,
पलक-पल्लव-प्रच्छाय निवास,

न जाने ले क्या क्या अभिलाष
खो गया बाल विहग नादान।

इस प्रकार की सुकुमार कल्पना - स्फूर्तियों (Fancies) से पंत का काव्य भरा हुआ है। प्रेम के उदात्त, चिर नवीन, चिर आनंदमय रूप के प्रति कवि का आग्रह विशेष रूप से है। रीतिकालीन और द्विवेदी-युगीन प्रेम-भावना से यह भावना नितांत नवीन है। पंत ने प्रेम को आधुनिक शब्दावली दी है और वासना और विलास के स्थान पर स्वस्थ प्रेम को काव्य का रूप दिया है। उनके प्रेम में पृथ्वी को स्पर्श अधिक नहीं है, परन्तु उसकी अतीन्द्रियता उसे विलास-गर्त में गिरने से बचा लेती है। नारी के प्रति इस अत्यन्त सतर्क, अतीन्द्रिय और रहस्यमय दृष्टिकोण ने पंत और अन्य छायावादी कवियों की कुछ कविताओं को लांछा का विशेष बनाया है। बाद के कवियों को इस

दृष्टिकोण से चुनौती लेनी पड़ी है। एक हद तक बात ठीक भी है। पंत अपनी प्रेयसी का वर्णन कर रहे हैं—

**एक लावण्य-लोक छविमान,**
**नव्य नक्षत्र समान,**
**उदित हो दृग-पथ में अम्लान**
**तारिकाओं की तान !**
**प्रणय का रच तुमने परिवेश**
**दीप्त कर दिया मनोनभ-देश;**
**स्निग्ध सौन्दर्य-शिखा अनिमेष**
**अमंद, अनिंद्य, अशेष !**

इस वर्णन से हाड़-मांस वाली नारी का जरा भी पता नहीं चलता। हर्ष का विषय है कि इस तरह की कविताएं अधिक नहीं हैं और कवि सहज प्रेम के सुंदर गीत गा सका है। इन परिचित हास-विलासमय प्रेम-गीतों की संख्या अधिक नहीं है, परन्तु वे अपनी परंपरा का निर्माण स्वयं कर सके हैं।

आत्मचिंतन और प्रेम के बाद कवि का तीसरा प्रिय विषय प्रकृति है। अपनी प्रारंभिक रचनाओं में ही कवि ने अपने प्रकृति-प्रेम का परिचय दिया था। इन रचनाओं में प्रकृति का जो बहु-मुखी चिंतन है उसके संबन्ध में हम पहले ही विचार कर चुके हैं। 'गुंजन' में प्रकृति के अलंकृत चित्रण की भावना और भी अधिक है। 'पल्लव' के प्रकृति-चित्रों में कल्पना का अतिरेक था। यह अतिरेक कवि के प्रकृति-संबधी काव्य को असाधारण बना देता है। 'पल्लव' के प्रकृति-चित्रण के पीछे चिंतन का बल नहीं है। 'गुंजन' में कवि का चिंतन उसके प्रकृति-चित्रों को बराबर पुष्ट करता रहता है। इस संग्रह में प्रकृति के अनेक रम्य चित्र मिलेंगे जो आज हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। चांदनी रात में गंगा का एक चित्र देखिये—

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनंत, नीरव भूतल !
सैकत शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल
लेटी हैं श्रांत, क्लांत, निश्चल !
तापस-बाला गंगा निर्मल शशि-मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिसपर, शशि की रेशमी विभा से,
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर

इस चित्र में जो निर्मलता है, जो स्निग्धता है, वह अन्य स्थान पर सुलभ नहीं है। थोड़े से चुने हुये शब्दों में कवि प्रकृति चित्र को कलात्मक रूप देने में सिद्धान्त है। 'संध्या' का यह चित्र उसकी सतर्क कला का अच्छा उदाहरण है—

नीरव संध्या में प्रशांत
डूबा है सारा ग्राम-प्रांत।
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल बन का मर्मर
ज्यों वीणा के तारों में स्वर
खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि हीन,
धूसर भुजंग सा जिह्म, क्षीण।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशांति को रहा चीर,
संध्या-प्रशांति को कर गँभीर।
इस महाशांति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों भेद रही हो आर-पार।
अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन।

गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु-शिखरों से वह स्वर्ण विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग!
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील कोमल-कोमल
छाया तरु-वन में तम श्यामल।

परन्तु जहाँ चिंतन ही सब कुछ हो गया है, जहां कवि की प्रकृति - विषयक अनुभूति तर्कवाद और कल्पना के आगे कुंठित हो गई हैं वहां वर्णन में यह प्रांजलता नहीं मिलती। कहीं कल्पना इतनी सूक्ष्म हो गई है कि उससे प्रकृति सौन्दर्य का कोई स्पष्ट चित्र उपस्थित नहीं होता। 'चांदनी' पर लिखता हुआ कवि जब कहता है—

वह नभ के स्नेह-श्रवण में
दिशि की गोपन सम्भाषण,
नयनों के मौन मिलन में
प्राणों की मधुर समर्पण

या—

वह खड़ी दृगों के सम्मुख
सब रूप, रेख, रँग ओझल,
अनुभूति-मात्र सी उर में
आभा सशांत, शुचि, उज्ज्वल!
वह है, वह नहीं, अनिवर्च,
जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना-सी वह
जिसमें अचेत जीवाशय!

तब हम न किसी सौन्दर्य - चित्र से परिचित होते हैं, न चाँदनी की आत्मा तक पहुँचते हैं। जो कुछ कल्पित है, वह किसी भी प्रकार इंद्रियग्राह्य नहीं। वह केवल भावना का विषय है कवि की अनुभूति से उसका कोई संबन्ध नहीं।

'पल्लव' की अंतिम कविता में पंत ने स्वप्नों से बिदा ले ली है, परन्तु 'युगांत' तक ये स्वप्न किसी-न-किसी रूप में चलते रहते हैं। इनका रूप कुछ थोड़ा-बहुत बदला अवश्य मिलता है। 'अप्सरा' शीर्षक कविता में ये स्वप्न जैसे जड़ीभूत ही हो गये हैं। रवि बाबू की 'उर्वशी' कविता की थोड़ी छाया इस कविता पर अवश्य है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कवि उतनी ऊँचाई पर नहीं उठ सका है। फिर भी इस कविता के कुछ चित्र अत्यन्त प्रौढ़ हैं—

**इन्द्रलोक में पुलक-नृत्य तुम**
**करतीं लघु-पद-भार!**
**तड़ित-चकित चितवन से चंचल**
**कर सुर-सभा अपार,**
**नग्न देह में नव रँग सुर-धनु**
**छाया-पट सुकुमार,**
**खोंस नील नभ की वेणी में**
**इन्दु कुंद-द्युति स्फार**
**स्वर्गंगा में जल विहार जब**
**करतीं, बाहु मृणाल।**
**पकड़ पैरते इंदु-बिम्ब के**
**शत-शत रजत मराल;**
**उड़-उड़ नभ में शुभ्र-फेन कण**
**बन जाते उड़ बाल,**
**सजल देह-द्युति चल लहरों में**
**बिम्बित सरसिज-माल।**

इस प्रकार की शृंखलित मूर्त्तिमत्ता (Sustained Imagery) इस कविता को 'पल्लव' की Fancies से नितांत अलग श्रेणी में रख देती है। पाठक प्रति-दिन जीवन से बहुत ऊपर उठकर कवि के लोक में ही निवास करने लगता है। चित्रों और स्वप्नों का वह देश कितना विचित्र होगा जहाँ कवि की कल्पना की अप्सरा निवास करती है। कवि कहता है—

तुम्हें खोजते छाया-बन में
अब भी कवि विख्यात,
जब जग-जग निशि-प्रहरी जुगनू
सो जाते चिर प्रात;
सिहर-लहर, मर्मर कर तरुवर,
तपक तड़ित अज्ञात,
अब भी चुपके इंगित देते
गूँज मधुप, कवि-भ्रात।
गौर-श्याम तन, बैठ प्रभा-तम,
भगिनी-भ्रात सजात
बुनते मृदुल मसृण छायांचल
तुम्हें तन्वि! दिनरात,
स्वर्ण-सूत्र में रजत हिलोरें
कचु काढ़ती प्रात,
सुरँग रेशमी पंख तितलियां
डुला सिरातीं गात!

यहां प्रकृति कल्पना के भार से आक्रांत नहीं है। 'पल्लव' की 'नक्षत्र' कविता की तरह यहां उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की अनर्गल शृंखला इकट्ठी नहीं की गई है। कवि प्रकृति की रहस्यमयता से अब भी प्रभावित है। यही रहस्यमयता उसके अधिकांश गीतों को प्रभावित करती है। वह खेतों के पार आकाश की नीलिमा से मिले हुए छाया-बन में स्वप्नों के एक अभिनव देश की कल्पना करता है। यही स्वप्न कवि को गीत की प्रेरणा देते हैं :

दूर, उन खेतों के उस पार,
जहाँ तक गई नील झंकार,
छिपा छाया-वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार ;
वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़-उड़ कर पास !
इन्हीं में छिपा कहीं अनजान
मिला कवि को निज गान!

धीरे धीरे कवि प्रकृति के संबन्ध मे इस रहस्यभाव से दूर हटा है, परन्तु बहुत धीरे धीरे 'गुंजन' में हम उसे 'पल्लव' और 'ग्राम्या' के बीच में पाते हैं। आँखें खुली हैं। मन खुला है। परन्तु प्राणों में अभी अज्ञात और अगोचर के सपने भरे हैं जो कवि के दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं।

अंत में हमें 'गुंजन' के दृष्टिकोण और उसकी भाषा के संबन्ध में विचार करना है। 'गुंजन' से पहले कवि का दृष्टिकोण मुख्यतः निराशावादी या रहस्यवादी ही कहा जा सकता है। इस जीवन और जगत् के अनेक परिवर्तनों के मूल में किसी व्यापक करुणा भाव की सत्ता में कवि को विश्वास है। यह विश्वास जहां उसे निराशा में बल देता है वहाँ उसे जीवन के आनन्द और उल्लास से अपने को तादात्म्य करने नहीं देता। यह संसार उसे विचित्र और रहस्यमय जान पड़ता है, परन्तु यह विचित्रता उसे आतंकित भी कर देती है। 'पल्लव' की अंतिम कविता—'परिवर्तन'—में अवसाद और करुणा के स्वर और भी मुखर हो उठे हैं। कवि कहता है—

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार;

दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार !

परन्तु 'गुंजन' का कवि जीवन के आनन्द से भर गया है। जीवन की अपार संभावनाएं उसे बराबर आश्वस्त किये रहती हैं। कितना व्यापक है यहजीवन और कितना अतुलनीय है इसका आनंद :

जीवन का जलनिधि डोल-डोल
कल-कल छल-छल करता किलोल !
डूबे दिशि-पल के ओर-छोर
महिमा अपार, सुखमा अछोर !
जग जीवन का उल्लास,—
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास

उसमें मनुष्य के प्रति अगोध स्नेह, अगाध आदर भाव का जन्म-होता है। वह उसे परिस्थितियों के हाथ की पुतली-मात्र नहीं समझता। जीवन की अनंत क्षमता की तरह मनुष्य की क्षमताओं का भी कोई अंत नहीं। कवि गाता है—

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने;
मेरे मानस के स्पंदन,
प्राणों के चिर पहचाने !
मेरे विमुग्ध नयनों की
तुम कांतकनी हो उज्ज्वल,
सुख के स्मिति की मृदु रेखा,
करुणा के आँसू कोमल !

× × ×

पृथ्वी की प्रिय तारावलि !
जग के वसन्त के वैभव !
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव

वह जीवन के एक चिन्मय, स्वस्थ और आनन्दमुख तत्त्व की कल्पना करता है और उसके प्रति प्रार्थी होता है ;

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण, तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन !

'गुंजन' की यही मङ्गलाशा 'ज्योत्स्ना' में रूपक का रूप धारण कर अवतरित होती है ।

'ज्योत्स्ना' की मूल प्रेरणा उसके इस गीत से स्पष्ट हो जाती है :

मङ्गल चिर - मङ्गल हो !
मङ्गलमय सचराचर,
मङ्गलमय दिशिपल हो ।
तमस-मूढ़ हो भास्वर,
पतित-शुद्र, उच्च प्रवर,
मृत्युभीत नित्य अमर
अगजग चिर उज्ज्वल हो ।

इस मूल भावना को लेकर कवि ने एक कल्पना - निष्ठ कथानक उपस्थित करने की चेष्टा की है । यह कथानक न बहुत महत्वपूर्ण है न बहुत संगठित। अपने विचारों को प्रगट करने के लिए कवि ने नाटक का एक माध्यम चुन लिया है । यह माध्यम ही उसकी मौलिकता है । इस माध्यम के नाते ही उसे पात्रों और वार्तालाप की योजना करनी पड़ी है । कथा इस प्रकार है— संसार में सर्वत्र ऊहापोह और घातक क्रांति देख कर इन्दु उसके

शासन की बागडोर अपनी महिषी ज्योत्स्ना को दे देता है जो स्वर्ग से भू पर आकर पवन और सुरभि अथवा स्वप्न और कल्पना की सहायता से संसार में प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श स्थापित कर देती है। यह कथा पाँच अङ्को मे कही गई है। 'पहले अंक में संध्या और छाया का पारस्परिक वार्तालाप सूचना देता है कि इन्द्र अपने शासन की बागडोर बहू ज्योत्स्ना को देना चाहता है, और साथ ही संकेत करता है कि संसार में स्वर्ग उतर आयेगा। दूसरे में विलासी इंद्र और सयता विश्वप्रेमिका ज्योत्स्ना अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित होते हैं। इन्द्र ज्योत्स्ना को भूलोक के शासन की बागडोर दे देता है और उसे संसार में स्वर्ग उपस्थित करने की प्रेरणा करता है। इस प्रकार कार्य विकसित होता है। तीसरे अङ्क में ज्योत्स्ना पवन और सुरभि के साथ मृत्य-लोक में आ जाती है और संसार की स्थिति पूछने पर पवन उसके समक्ष आधुनिक युग का एक बड़ा ही सशक्त और सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। वह बतलाता है कि एक ओर धर्मान्धता, अधविश्वास और जीर्ण रूढ़ियों के संग्राम चल रहा है, दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह-श्रंखला की तरह जकड़े हुए हैं। बुद्धि का अहंकार प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़कर मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव एवं आदर्शप्रिय हृदय को स्वार्थ की नोक से छेद रहा रहा हैं। इतने में मृत्युलोक के दूत के रूप में झींगुर का कर्कश स्वर सुनाई देता है जो पवन के विश्लेषणात्मक वर्णन का संश्लिष्ट रूप में समर्थन करता है—

> **जो है समर्थ जो शक्तिमान,**
> **जीने का है अधिकार उसे,**
> **उसकी लाठी का बैल विश्व,**
> **पूजता सभ्य संसार उसे**

इस बेसुरी आलाप को सुनकर ज्योत्स्ना की सहानुभूति एक साथ उत्तेजित हो जाती है। वह पवन और सुरभि पर हाथ फेर कर उन्हे स्वप्न और कल्पना

का रूप दे देती है और फिर उनको आज्ञा देती है कि काव्य, संगीत, शिल्प —एक शब्द में—कला द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानव मूल्यों को स्थापित करे और उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करे। स्वप्न और कल्पना उसकी आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने उपायों ( Desigrs ) का एक छाया-प्रदर्शन उपस्थित करते हैं—बस, ये स्वप्न और कल्पना सुप्त मनुष्य-जाति के मनोलोक में प्रवेश कर मनुष्यों में नवीन संस्कार एवं भावनाएँ जाग्रत करते हैं। फलतः नवयुग का निर्माण करने के लिए कोमल और स्वस्थ मानसी भावनाएँ प्रकट होती हैं जिनके नाम हैं—भक्ति, शक्ति, दया, सत्य, श्रेय, समतानुराग, साधना, धर्म, निष्काम कर्म, करुणा, ममता, स्नेह, कला आदि-आदि। इनके प्रसार से मर्त्य लोक की काया पलट जाती है और वह विश्व-बन्धुत्व की स्थापना द्वारा एक आदर्श गृहस्थी का रूप धारण कर लेता है। इसी में पत जी की सामाजिक, राजनैतिक, कला और सदाचार-सम्बन्धी भावनाओं के प्रतिरूप भिन्न-भिन्न स्त्री - पुरुष उपस्थित होते हैं और अपने सिद्धांतों की व्याख्या करते हैं।

इसके उपरांत ज्योत्स्ना अपना कार्य समाप्त कर पुनः स्वर्ग - लोक को प्रयाण कर देती है और चौथे अंक में छाया और उल्लू देखते हैं कि सत्प्र-वृतियों का अधिक प्रचार बढ़ जाने पर प्रयोजन न रहने के कारण, असत्प्र-वृतियां अनेक कदाकार कुरूप वेश धारण कर धीरे-धीरे तम में विलीन हो रही हैं। लावा पक्षी आगामी प्रभात की सूचना देता है। पाँचवा अंक इस दुर्धर और भयङ्कर अधकार के उपरांत एक साथ प्रकाश विकीर्ण कर देता है। ऊषा का आगमन संसार में स्वर्ग ला देता है। ओस, तितली, लहर आदि सभी में सुख का सगीत फूट निकलता है।" (नगेन्द्र, पृ० १७१-४) —यह हुई ज्योत्स्ना की कथावस्तु। नाटकीय दृष्टि से इस कथानक में न कार्य का उचित संगठन है, न नाटकीयता ही है, न पात्रों का चारित्र्य वैशिष्ट्य है। पात्रों का हाड़-मांस कवि गढ़ नहीं सका है। वे वायवी भावना-चित्र

मात्र रह गए हैं। सारा नाटक रूपक-मात्र है। उसमें सैद्धांतिक विवेचना तो अवश्य है परन्तु प्राणों का रस किंचित-मात्र भी नहीं। पात्रों के वार्तालाप दार्शनिक विवेचनाओं से भरे होने के कारण लोक-रुचि उनकी ओर आकर्षित नहीं हो सकती। वस्तुतः नाटक की दृष्टि से यह कृति सर्वथा असमर्थ है। जान पड़ता है, शेली ( Shelley ) और रवि बाबू के इसी तरह के नाटकों से कवि परिचित है और उनसे प्रभावित भी हुआ है, परन्तु ये सभी नाटक केवल विशेष श्रेणी की जनता में ही लोकप्रिय रहे हैं।

परतु यह नहीं कहा जाता कि 'ज्योत्स्ना' नितांत असफल है। कवि ने जिस रूप में उसकी कल्पना की है वह नाटकीय विधान रहते हुए भी काव्य का रूप है। काव्य के भीतर से ज्योत्स्ना पूर्णतः सफल है। उसमें कवि ने अपने मनः-स्वप्न को सफलतापूर्वक अंकित किया है। काव्यगत मूर्त्त और अमूर्त्त अनेक वस्तुओं का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। प्रकृति और मनुष्य - मन के अनेक उपादान इतने सुन्दर और चटकीले वस्त्र पहन कर उपस्थित होते हैं कि हम मुग्ध हो जाते हैं। एक नया ही जगत पाठक की आँखों के सामने नाचने लगता है। फिर इसमें हमे कवि की सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का परिचय मिलता है। जीवन के सर्वांगी विकास के पथ पर मनुष्य कैसे बढ़े—यहीं 'ज्योत्स्ना' का केन्द्र-विन्दु है। मनुष्य को यदि इसी पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण करना है तो वह 'ज्योत्स्ना' के आदर्श के परिचालित हुए बिना रह ही नहीं सकता। ज्योत्स्ना कहती है—'असंख्य कोटि जीवों एवं मनुष्यों से युक्त, वन-उपवन, मरु-उर्वर, पर्वत-समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक है। ये अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी एकता को नष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार यह बाहर से एक है, उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्व-चक्र एक ही अखडनीय सत्ता है, एक ही विराट शक्ति के नियमों

से संचालित है। मानव - जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गई है। उसे अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँध कर समस्त विभिन्नता को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियत्रित करना होगा अनियंत्रित प्रकृति विकृति मात्र है। आज के जीवन की विरूपता और विशृंखलता पवन के इस कथन से स्पष्ट है—"विकासवाद के दुष्परिणाम से, भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एवं इंद्रिय-सुख लुब्ध मनुष्य -जाति समस्त बेग से जड़वाद के गर्त की ओर अग्रसर होरही है। मानव-सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्वावलोकन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शों, विचारों, संस्कारों, नैतिक नियमो एवं आचार-व्यवहारों के प्रति विश्वास उठ गया है। मनुष्य मनुष्य न रह कर एक ओर निरंकुश धनपति, दूसरी ओर अति - श्रमजीवी बन गया है।" इस विषमता का नाश कैसे हो ज्योत्स्ना के शब्दों में—"ज्ञान - विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नहीं हो सकता। सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रख कर ही मनुष्य जाति सुख-शांति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है।" परन्तु इतना ही सब कुछ नहीं है। उच्च आदर्शों से ही काम नहीं चलेगा। प्रकृति से लड़ते लड़ते मनुष्य स्वय जड़ प्रकृति बन गया है। वह अपने आंतरिक जीवन के प्रति उदासीन है। उसे इस उदासीनता को तिलांजलि देनी होगी और अपने आंतरिक जीवन का पुनर्संगठन करना होगा। कल्पना ठीक कहती है—इस युग के मनुष्य का ध्यान भूत प्रकृति की ओर गया है। संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर उसमें दुःखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाहरी प्रकृति के अत्याचारो से मुक्ति पाने की ओर लगी है। इसके लिए उसने भूतविज्ञान की सृष्टि की है। वह देश, काल एवं भौतिक शक्तियों को हस्तगत कर रहा हैं। यह भूत-प्रकृति ही उसके कष्टो का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक - ठीक निर्णय अभी नहीं कर पाया ? मानव - जीवन के वाह्य क्षेत्रों एवं विभागों को

संगठित एवं सीमित कर अपने आंतरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है।

'गुंजन' में कवि ने आंतरिक जीवन के पुनर्निमाण के लिए जो एक नई संस्कृति की योजना की है वह अपने में पूर्ण हैं। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्णधूल' में इस योजना को और भी स्थायित्व मिला है। कवि ने मार्क्सवाद के आधार पर भी जीवन के नये तत्वों के गढ़ने की चेष्टा की है, मुख्यतः 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में, परन्तु वह मार्क्सवाद को जीवन-व्यापी सर्वांग पूर्ण दर्शन का रूप नहीं दे सका। वह जिन चिरंतन तत्वों को पूर्व युगों से सभालता हुआ आगे बढ़ रहा है वह सब मार्क्सवाद के लिए एकदम उपेक्षा के विषय है। इसी से कवि को फिर अपनी पुरानी चिता-भूमि की ओर लौट आना पड़ा है। जो हो, यह निश्चित है कि 'गुंजन' का पंत की विचार-धारा में महत्वपूर्ण स्थान है। और यदि हम ज्योत्स्ना को 'गुंजन' की नाटक-बद्ध व्याख्या कहे तो अधिक बुरा नहीं होगा। 'गुंजन' के मानव में जिस उदात्त मनोभूमि के दर्शन होते हैं, वही नई मंगलाकांक्षा के साथ 'ज्योत्स्ना' को को हमारे काव्य-साहित्य की अमूल्य निधि बना देता है। 'ज्योत्स्ना' का यह गीत नई मानवता का संवेत गीत है:

**न्योछावर स्वर्ग इसी भूपर**
**देवता यही मानव शोभन,**
**अविराम प्रेम की बांहों में**
**है मुक्ति यही जीवन-बंधन !**
**है रे न दिशावधि का मानव,**
**वह चिर पुराण, वह चिर नूतन,**
**मानव के हैं सब जाति, वर्ण,**
**सब धर्म ज्ञान संस्कृति, बल, धन !**
**मृन्मय प्रदीप में दीपित हम**
**शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम**

हम एक ज्योति के अखिल दीप
ज्योतित जिनसे जग का आँगन
हम पृथ्वी की प्रिय तारावलि
जीवन-बसंत के मुकुल, सुमन
सुरभित सुख से गृह-गृह, उपवन
उर-उर में पूर्ण प्रेम - मधु-धन

भावी की पीढ़ियां इसे भुला नहीं सकेंगी।

'युगांत' (१९३४-३६) की अधिकाश कविताएँ भी 'गुंजन' की ही परंपरा में आती हैं। वे चितन - प्रधान हैं। 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में जो दार्शनिक गांभीर्य है, जो मानव के भविष्य के सबन्ध में मंगलाशा है, जो प्रकृति का प्रसन्न-मन साहचर्य है, वह सब 'युगांत' में भी मिलेगा। कवि मानवता के विकास के लिए अपने जीवन का बलिदान देने को भी तैयार है :

मैं झरता जीवन-डाली से,
साह्लादशिशिरकाशीर्ण पात,
फिर से जगती के कानन में,
आ जाता नवमधु काप्रभात !

वह कभी अपने को नवयुग का चारण खग बताता है, कभी कोकिल के कंठ से पुरातन रूढ़ियों के प्रति पावक-कण बरसाता है, कभी सत्यं, शिवं,-सुन्दरम् के लिए आत्मोत्सर्ग की आकांक्षा प्रगट करता है। वह गाता है--

जग-जीवन में जो चिर महान,
सौन्दर्यपूर्ण औ' सत्य-प्राण !
मैं उसका प्रेमी बनूं नाथ,
जिसमें मानव हित हो समान !

उसका मंगलाशी स्वर और भी मुखर और भी उदात्त हो उठता है :

मानव जग में गिरि-कारा सी
गत-युग की संस्कृतियाँ दुर्धर,
बंदी की हैं मानवता को
रच देश—जाति की भित्ति अमर;
ये डूबेंगी—सब डूबेंगी
पा नव मानवता का विकास,
हँस देगा स्वर्णिम वज्र लौह
छू मानव-आत्मा का प्रकाश!

इस मंगलाशा के केन्द्र में उसने महात्मा गान्धी को प्रतिष्ठित किया है। सत्य, अहिंसा और प्रेम के द्वारा भावी मानव के लिए नई संस्कृति की नींव डालने वाले इस महापुरुष की ओर, कवि का ध्यान जाना अनिवार्य ही था। 'युगांत' में पहली बार हम पंत को इस महामानव के प्रति श्रद्धा-जलियां अर्पित करता पाते हैं। कवि कहता है—

सुख-भोग खोजने आते सब
आए तुम करने सत्य खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज!
जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर,
चेतना, अहिंसा, नम्र ओज,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज!
पशुबल की कारा से जग को
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष, घृणा से लड़ने को
सिखलाई दुर्जय प्रेम-युक्ति!

**वह श्रम प्रसूति से की कृतार्थ**
**तुमने विचार परिणीत उक्ति,**
**विश्वानुरक्त हे अनासक्त।**
**सर्वस्व त्याग को बना भुक्ति।**

'बापू के प्रति' इस कविता में जैसे कवि की 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और 'युगांत' की सारी मंगलाशा, सारा मानववाद केंद्रित हो गया है। मानवके लिए जिस स्वर्ग की कल्पना कवि ने ज्योत्स्ना में मूर्त की थी, उसे केवल गांधी जी के सत्य और अहिंसा के प्रयोगों के द्वारा पृथ्वी पर उतारा जा सकता है। यहाँ आकर कवि का एक चिंतन-युग समाप्त हो जाता है। 'पल्लव' में कवि ने विकास का एक चरण समाप्त किया था। वह कल्पना के स्वर्ग को छोड़ कर प्रकृति-क्रोड़ से आगे बढ़ा था। वाह्य सौन्दर्य से हट कर वह अंतः-सौन्दर्य तक पहुँच गया था। पहले उसका लक्ष्य सुन्दर था, अब सत्य हो गया। 'युगांत' के साथ कवि ने अपना लक्ष्य एक बार फिर बदला। वह जनहित को, 'शिव' को, अपने काव्य का आदर्श मान कर चला।

परन्तु 'युगांत' में और भी बहुत कुछ है। प्रकृति के कुछ बहुत सुन्दर चित्र हमें 'युगांत' में मिलते हैं। 'गुंजन' का सारा माधुर्य 'गुंजन' की भाषा से कहीं प्रौढ़ भाषा में। परन्तु १९३७-८ मे 'युगवाणी' की कविताएँ लिखते हुए कवि ने इन सब रचनाओं को 'गुंजन' युग की समझ कर संग्रह का नाम युगांत रखा है।

# ४

## 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'

हमने बतलाया है कि 'युगांत' के साथ कवि ने अपनी काव्य-भूमि और जीवन-संबंधी अपने दृष्टिकोण में फिर एक बार परिवर्तन किया है। इन दोनों संग्रहों को हम साथ-साथ लेंगे। दोनों संग्रहों की रचनाओं की प्रेरणा एक ही है। अंतर केवल इतना है कि 'युगवाणी' में कवि ने अपने जीवन-संबन्धी नये सिद्धान्तों को उभारा है, 'ग्राम्या' में नये जीवन के अग्रदूतों— गाँव, कर्मकर (मजदूर) और कृषक की बात कही है। एक तरह से 'युग-वाणी' 'ग्राम्या' की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि कही जा सकती है।

'गुंजन' में कवि ने पहली बार कल्पना और कवि - कर्ममात्र से हटकर जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद की तह में जाने की चेष्टा की है। उसका आशावादी, मंगलवादी आत्मचिंतन, उसका मानववाद, उसका गांधीवाद उसके विकास का महत्वपूर्ण चरण है। १९३६ के आसपास भारतीय राज-नीति में एक नई शक्ति ने पदार्पण किया। यह समाजवाद या साम्यवाद की शक्ति थी। भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों के लिए लिए समाजवाद और साम्य-वाद नये शब्द नहीं थे। १९२१ ई० की रूसी क्रांति के बाद ये शब्द संसार भर में प्रचलित हो गए थे। हिंदी के कवि और साहित्यकार भी इनसे परि-चित थे। परंतु इसी समय महात्मा गांधी ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया और आध्यात्मिक साधनों को लेकर भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई आरम्भ की। गांधी जी ने जिन मूल्यों पर बल दिया वे सांस्कृतिक मूल्य थे। सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, त्याग, कष्टसहन, आत्मप्रताड़न और साधन की शुद्धता को एक महान साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र की भाँति चलाया गया था। मानववादी पंत के लिए आध्यात्मिक अस्त्रों द्वारा लड़ी यह लड़ाई गौरव

भेनंदन का विषय थी। भारतीय संस्कृति में जो कुछ उन्नत और गांधी जी उसके प्रतीक के रूप में सामने आये। 'युगांत' की 'बापू कविता में कवि ने उनके नेतृत्व का अभिनंदन किया है और उन्हें नव-जीवन के सूत्रधार के रूप मे देखा है।

तु इस बीच में कवि को कुछ समाजवादियो के संसर्ग में आना पड़ा ने अपने चारों ओर के दुःख और क्रदन के लिए एक निदान की समाजवादियो के पास एक बना बनाया निदान था— मार्क्स संवाद। मार्क्सवाद के रूप में एक नया जीवन-दर्शन कवि के या। कवि ने स्वय मार्क्स की पुस्तकों और मार्क्सवाद पर लिखे अध्ययन किया। इस अध्ययन ने उसे जीवन के प्रति एक नये की ओर इगित किया। गांधीवाद में आधुनिक मानव की सारी का समाधान नहीं था। वर्ग-संघर्ष मार्क्सवाद का मूलाधार है। का आधार है सहयोग, सर्वोदय। जहां मार्क्सवाद विज्ञानवादी है धीवाद अध्यात्मवादी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप में मार्क्सवाद जीवन दर्शन को प्रस्तुत किया है जो विकासवाद को मनुष्य के सामा- कास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देता है। 'युगवाणी' के कवि ने को स्वीकार कर लिया है, परन्तु 'गांधीवाद' को वह पूरा-पूरा नहीं कर सका है। हॉ, उसके आगे उसने बड़ी २ प्रश्न लगा दिये वाणी' की पहली कविता बापू ही है। इस कविता में कवि का स्वर है। वह कहता है:

**सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?**
**अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जावेगा जगजीवन !**
**आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता !**
**प्रेम-शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता !**

भूतवाद और अध्यात्मवाद में एक प्रकार के समन्वय की कल्पना

**भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,**
**जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीनअम्लान!**

यह समन्वय 'समाजवाद - गांधीवाद कविता में कुछ विस्तार के साथ चित्रित किया गया है :

**साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जनतंत्र महान,**
**भव जीवन के दैन्य-दुःख से किया मनुजता का परित्राण!**
**अंतर्मुख अद्वैत पड़ा का युग-युग से निष्क्रिय निस्प्राण;**
**जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान!**
**गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान,**
**सत्य-अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण!**
**गांधीवाद हमें जीवन पर देता अंतर्गत विश्वास,**
**मानव की निःसीम शक्ति का मिलताउससे चिर आभास!**
**व्यक्तिपूर्ण बन, जग जीवन में भर सकता है नूतन प्राण,**
**विकसित मनुष्यत्व कर सकता पशुता से जन का कल्याण**
**मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,**
**सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद!**

साम्यवाद का आधार है भौतिकवाद। परन्तु कवि पूर्ण रूप में भौतिकवाद और विज्ञानवाद को स्वीकार नहीं करता। उसे इनकी सीमाएँ मालूम हैं। वह केवल जड़ वाह्य को ही नहीं देखता, चेतन अतर को भी वह देखता है। उसका कहना है कि जीवन की धारा भौतिकता और आध्यात्मिकता के दो कूलों के बीच में बह रही है। केवल भौतिकता या केवल आध्यात्मिकता को ही जीवन का सत्य मान कर चलना भूल होगी। संकीर्ण भौतिकवादियो के प्रति उसका व्यंग है—

**आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम?**
**मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम?**

वस्तुवाद ही सत्य, मृषा सिद्धांतवाद, आदर्श ?
वाह्य परिस्थतियों पर आश्रित अंतर काउत्कर्ष ?
मानव ! कभी भूल से भी क्या सुधर सकी है भूल ?
सरिता का जल मृषा, सत्य केवल उसके दो कूल !
आत्मा औ' भूतों में स्थापित करता कौन समत्व ?
वहिरंतर, आत्मा-भूतों से है अतीत वह तत्व ?
भौतिकता, आध्यात्मिता केवल उसके दो कूल,
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल सूक्ष्म से परे सत्य के मूल !

इसी से वह बार-बार गांधीजी की अभ्यर्थना करता है मानव ने विज्ञान का संचय करके देश-काल पर विजय पाई हैं, परन्तु आज उसके पास हृदयतत्व का अभाव है, भावुकता का अभावहै संग्रहणीय उच्च - वृत्तियों का अभाव है। भौतिकवाद आज उसका जीवन-दर्शन बन गया है। भौतिकता के इस युग में गांधी जी और उसका जीवन-दर्शन एक अत्यंत संग्रहणीय तत्व के रूप में सामने आते हैं। वह यांत्रिक सभ्यता के स्थान पर मानणीय गुणों के विजय की घोषणा करते हैं। इसी से कवि कहता है—

मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय !
चर्वित उसका विज्ञान ज्ञान : वह नहीं पचित
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित !
है श्लाघ्य मनुज का भौतिक संचय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास ?
चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
मानव-उर में फिर मानवता का हो प्रवेश !

परन्तु गांधी जी ने जन - क्रांति के लिए साधनों की शुद्धता के सबंध में जो कहा है उससे कवि का विश्वास डिग गया है। अहिंसा मनुष्य- मात्र के

लिए श्रेष्ठ और उपार्जनीय तत्व है, परन्तु वह उसी समय जब जन विकसित हों। जहां जनता दुर्बल है वहाँ अहिंसा कायरता-मात्र होगी। हिंसा का अर्थ है विनाश। परन्तु विनाश भी सृष्टि के विकास का साधन हो सकता है। इसी लिए वह हिंसा-अहिंसा के द्वन्द में नहीं पड़ना चाहता :

**बंधन बन रही अहिंसा आज जनों के हित,**
**वह मनुजोचित निश्चित, कब! जब जन हों विकसित।**
**भावात्मक आज नहीं वह, वह अभाव वाचक;**
**उसका भावात्मक रूप प्रेम केवल सार्थक!**
**हिंसा विनाश यदि, नहीं अहिंसा मात्र सृजन,**
**वह लक्ष्य शून्य रे : भर न सकी जन में जीवन**
**निष्क्रिय : उपचेतन-ग्रस्त : एकदेशीय परम**
**सांस्कृतिक प्रगति से रहित आज जनहित दुर्गम!**

इस प्रकार कवि ने गांधी और मार्क्स के बीच में अपना एक स्वतंत्र मार्ग निकाल लिया। गांधीवाद और मार्क्सवाद दोनों अपूर्ण हैं। मार्क्स ने मनुष्य के वहिर्जीवन के लिए साम्य की योजना की, गांधी मनुष्य के चेतन को जाग्रत करते है। मार्क्स तन का पोषण करता है तो गांधी मन और आत्मा को जड भूतों से ऊपर उठाकर स्वतंत्र और चेतन बनाता है। मानव न केवल तन है न केवल मन और आत्मा। इसी से पंत ने अपने जीवन-दर्शन में तन और मन दोनों के लिए योजना की है। मार्क्स की हिंसा और गांधी की अहिसा दोनों ही साधन के रूप में उसे स्वीकार हैं। शर्त केवल यह है कि वे प्रगति के माध्यम बन सकें।

'युगवाणी' में कवि ने मार्क्स और मार्क्सवाद के संबन्ध में भी बहुत कुछ लिखा है। मार्क्स ने इतिहास के एक बड़े सत्य का उद्घाटन किया है। पंत के ही शब्दो में :

**विकसित हो, बदले जब-जब जीवनोपाय के साधन,**
**युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन!**

**सामाजिक संबंध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,**
**नव विचार, नव रीति-नीति, नव नियम, भाव, नवदर्शन !**
**साक्षी है इतिहास,—आज होने को पुनः युगांतर,**
**श्रमिकों का साधन होगा अब उत्पादन-यंत्रों पर !।**
**वर्ग-हीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन,**
**पूरित होंगे जन के भव-जीवन के निखिल प्रयोजन !**
**दिग दिगंत में व्याप्त, निखिल युग-युग का चिर गौरव हर,**
**जन संस्कृति का नव विराट प्रासाद उठेगा भू पर !**

मार्क्स ने मनुष्य-समाज के विकास को वर्ग-संघर्ष का इतिहास बना दिया। उसने वर्गहारा समाज की कल्पना की और उत्पादन यंत्रों के उचित नियंत्रण को नई वर्गहीन सामाजिकता की भित्ति माना। रूस में उसके सिद्धांतों की परीक्षा भी हो गई। राजशक्ति सर्वहारा के हाथ में आ गई और इसी सर्वहारा को केन्द्र बनाकर जन-संस्कृति के संस्कार और पुनर्निर्माण की चेष्टा की गई। इसे ही साम्यवाद कहा गया। पंत इसी साम्यवाद का अभिनदन करते हैं :

**साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,**
**मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन !**

इस साम्यवाद का नेतृत्व मध्य वर्ग के हाथ में होगा पंत यह भी जानते हैं। उन्होने अत्यंत स्पष्टता से, कटुता लाये बिना—मध्यवित्त की सुन्दर आलोचना की है और उसकी अप्राकृतिक स्थिति के मूल कारण को समझा है। वास्तव में उन्हे इस वर्ग में भी उतनी क्रांतिदर्शिता दिखाई नही देती जिसके गीत रूसी क्रांति के पुजारियों ने गाये हैं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में हम पंत को देश की सारी प्रगतिविरोधी शक्तियों से मोर्चा लेते पाते हैं। व्यंग, परिहास, कटु सूक्ति और स्पष्टवादिता से भरी ये कविताएँ पंत को जीवन के क्षेत्र मे खींच ले आईं। उनकी अपनी अलग श्रेणी है। उन्हें गीत-गद्य कहो या और कुछ कहो, वस्तु-स्थिति

में कोई अंतर नहीं पड़ता। समाज के सारे गले-सड़े अंगों पर उन्होंने तीव्र खड्ग से प्रहार किया है :

भोग-शील, धनिकों का स्पर्धी, जीवन-प्रिय अति,
आत्म-बृद्ध, संकीर्ण-हृदय, तार्किक, व्यापक मति ?
पाप-पुण्य संत्रस्त, अस्थियों का वह कोमल,
वाक्-कुशल, धी-दर्पी, अति विवेक से निर्बल !
मध्यवर्ग का मानव, वह परिजन-पत्नी प्रिय,
यशकायी, व्यक्तित्व-प्रसारक, परहित निष्क्रिय ?
श्रमजीवी वह, यदि श्रमिकों का हो अभिभावक,
नवयुग का वाहक हो, नेता, लोक-प्रभावक !

( मध्य वर्ग )

युग युग का वह भारवाह, आकटि नत मस्तक,
निखिल सभ्य संसार पीठ का उसके स्फोटक !
वज्र मूढ़, जड़भूत, हठी, वृष-बांधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक !

( कृषक )

वे नृशंस हैं : वे जन के श्रम बल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित !
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकत से भी रहते हैं अतः अपरिचित !
शय्या की क्रीड़ा-कन्दुक है जिनको नारी,
अहंमन्य वे, मूढ़, अर्थबल के व्यभिचारी !
सुरांगना, संपदा, सुराओं से संसेवित,
नरपशु वे : भू-भार : मनुजता जिनसे लज्जित !

( धनपति )

'ग्राम्या' में यह व्यंग और भी मुखर हो गया है। यहां हम कवि को नारी-पुरुष के अप्राकृतिक जीवन, आधुनिक सभ्यता और ग्रामीण जीवन की विडंबनाओं के प्रति खड्गहस्त पाते हैं। आज समाज में नारी का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। वह नर की मुद्रा से ही मूल्यवती होती है :

**सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,**
**पूत योनि वह मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित,**
**अंग-अंग उसका नर के वासना-चिन्ह से मुद्रित,**
**वह नर की छाया, इंगित-संचालित, चिर पद लुंठित!**

वह हमारे समाज की इकाई नहीं रही है। वह तो शून्य है। स्वयम् उसका कोई मूल्य नहीं है। आज वह केवल योनि-मात्र है :

**योनि मात्र रह गई मानवी**
**निज आत्मा कर अर्पण,**
**पुरुष प्रकृति की पशुता का**
**पहने नैतिक आभूषण!**
**नष्ट हो गई उसकी आत्मा;**
**त्वचा रह गई पावन,**
**युग-युग से अवगुंठित गृहिणी**
**सहती पशु के बंधन!**

इस सशंकित, भीत हरिणी-सी कुंठित, नर की छाया नारी के प्रति कवि का क्षोभ थोड़ा नहीं है। मानव-जीवन का विकास जिस नारी पर आश्रित है वही नारी आज जीवन की प्रगति में बाधक हो रही है। उसकी सारी सुषमा, सारी लज्जा, सारा संकोच प्रगति-विरोधी है—

**वह नर की छाया नारी!**
**चिर नमित नयन पद विजड़ित,**
**वह चकित, भीत हिरनी सी**
**निज चरण-चाप से शंकित?**

मानव की चिर सहधर्मिणि,
युग-युग से मुख अवगुंठित,
स्थापित घर के कोने में
वह दीपशिखा-सी कंपित।

उच्च वर्ग की नारी की सारी वंश गरिमा, सारी संस्कृति उसे शीशे के रंगमहल-सी निर्बल दिखलाई पड़ती है। 'स्वीट पी के प्रति' कविता में कवि ने इस उच्चवर्गीया नारी की हँसी उड़ाई है। स्वीट-पी कुलबधू है न !—

कुलबधुओं-सी अयि सलज्ज, सुकुमार !
शयन-कक्ष, दर्शन गृह की शृंगार !
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प-पात्र में शोभित, रक्षित,
कुम्हलाती जाती हो तुम, निज शोभा ही के भार !
कुलबधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार !
सुभग रेशमी वसन तुम्हारे
सुरँग, सुरुचिमय—
अपलक रहते लोचन !
फूट-फूट अंगों से सारे
सौरभ अतिशय
पुलकित कर देतीं मन ?

आधुनिका के रूप में भी नारी उसे स्वीकार नहीं है। यह आधुनिक नारी पश्चिमी साज-सज्जा से अलंकृत है, परन्तु उसमें विकास के लिए अत्यंत आवश्यक नारी के सहज गुण— प्रेम, दया, सहृदयता, शील, क्षमा, पर-दुख-कातरता, तप, सयम, सहिष्णुता, त्याग, तत्परता—नहीं हैं। केवल रूप, केवल विलास, केवल इंद्रिय-लिप्सा। यही आधुनिका है। यह मधुग्राही-नारी पुरुष को प्रगति-पथ से और भी पीछे ढकेल रही है। कवि कहता है :

लहरी-सी तुम चपल लालसा श्वास-वायु से नर्तित,
तितली-सी तुम फूल-फूल पर मँडरातीं मधुक्षण हित !
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करतीं आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन-पद मद, आत्म-प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी;
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी ।

नारी के प्रति कवि का यह दृष्टिकोण उसके प्रेम के प्रति दृष्टिकोण से प्रभावित है । कवि प्रेम को कायवृत्ति नहीं मानता । वह उसे गुह्य, असामाजिक और एकांतिक नहीं मानता । वह चिल्ला-चिल्ला कर कहता है—

खोलो वासना के वसन,
नारी-नर ?

आधुनिक युग की अतिनैतिकता ने नर-नारी के बीच में भेदों-प्रभेदों और वासना की जो दीवार खड़ी कर दी है, वह उसे एकदम अग्राह्य है । वह स्वस्थ, निश्छल सामाजिक वृत्ति के रूप में ही नर-नारी के प्रेम को स्वीकार करता है :

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुंबन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर !
क्या गुह्य, क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान !
नर-नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण ?
क्या मिल न सकेंगे प्राणों से प्रेमार्त प्राण
ज्यों मिलते सुरभि-समीर, कुसुम-अलि, लहर-किरण ?
क्या क्षुधा-तृषा औ' स्वप्न-जागरण-सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन-द्योतक ?

यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है नई संस्कृति की आवाज़ उठाने वालों को इस प्रश्न का उत्तर देना होगा। अभी तक मनुष्य क्षुधा-तृषा की तरह काम की नैसर्गिकता को पूर्णतयः स्वीकार नहीं कर सका है। संसार के सभी देशों में नर-नारी के सहज प्रेम को सामाजिक नियमों के बंधन में इस तरह जकड़ दिया गया है कि उसके स्वाभाविक दैवी गुणों का लोप हो गया है और वह मानव-समाज की प्रगति में सहायक नहीं बन सकता। सभी देशों में विवाह को प्रेम की परिणिति समझा जाता है, परन्तु विवाह स्वयं नर-नारी के प्राकृतिक आकर्षण का कोई हल नहीं है। उसकी सामाजिकता केवल अपने मन को समझाने की बात है। जहाँ प्राणों का आदान-प्रदान है, वहीं दैवी प्रेम है, अन्यथा देह का विलास-मात्र। इसीलिए, जहाँ प्रेम अयौनज है, शुद्ध है, वहाँ कवि परकीया होने पर भी उसे लांछित नहीं समझता। वह नर-नारी के सबंध को नई संस्कृति की पृष्ठभूमि में देखना चाहता है। उसकी घोषणा है—

**मत कहो मांस की दुर्बलता, हे जीव - प्रवर !**
**है पुण्य-तीर्थ नर-नारी जन का हृदय-मिलन,**
**आनंदित होओ, गर्वित; यह जीवन का वर,**
**गौरव दो द्वन्द्व प्रणय को, पृथ्वी हो पावन !**

प्रेम की इतनी उदात्त मनोभूमि किसी भी आधुनिक कवि ने हिन्दी को नहीं दी है। कवि की यह मंगलाशा असफल नहीं जायगी—

**मुक्त करो जीवन-संगिनि को,**
**जननि देवि को आदृत,**
**जगजीवन में मानव के सँग**
**हो मानवी प्रतिष्ठित !**
**प्रेम - स्वर्ग हो धरा, मधुर**
**नारी-महिमा से मंडित,**

नारी-मुख की नव किरणों से
युग - प्रभात हो ज्योतित !

भावी संस्कृति के केन्द्र में जिस दिन नारी की यह महा-महिमा प्रतिष्ठित होगी उस दिन स्वर्ग के देवता पृथ्वी पर ईर्ष्या करेंगे।

यह भावी संस्कृति श्रमजीवी संस्कृति होगी। इस विषय में कवि पूर्ण रूप से आश्वस्त है। इसीलिए वह बार-बार श्रम की महिमा के गीत गाता है। वर्ग-सभ्यता ने ऐसी श्रेणियों का निर्माण किया है जो दूसरों के श्रम पर जीती हैं। आज यही श्रेणियाँ सभ्यता और संस्कृति की दौड़ में सब से आगे बढ़ी हुई हैं। परन्तु यह सभ्यता और संस्कृति छलना मात्र हैं। सच्ची संस्कृति श्रमजीवी संस्कृति है क्योंकि वह वर्गहीन विश्व-मानवता पर आधारित है। पंत के शब्दो में आज का श्रमजीवी ही है

लोक-क्रांति का अग्रदूत, वर वीर जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित !
चिर पवित्र वहः भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी—पावन श्रम से प्रक्षालित !

कोरी दार्शनिकता और तर्कवाद का भावी संस्कृति में कुछ भी महत्व नहीं होगा। श्रमिक ही इस भू के अधिकारी समझे जायेंगे। नया जीवन-दर्शन श्रम के आधार पर ही खड़ा होगा—

'कर्म क्लिष्ट मानव-भव-जीवन,
श्रम ही जग का शिल्पि चिरंतन !

× × ×

'व्यर्थ विचारों का संघर्षण,
अविरत श्रम ही जीवन-साधन;
लौह - काष्ट मय, रक्त-मांस मय,
वस्तु-रूप ही सत्य चिरंतन !' (घननाद)

यह नई संस्कृति एकदेशीय, एकजातीय नहीं होगी। वह सार्वभौमिक होगी। पंत ने इसे 'भव-संस्कृति' कहा है। पृथ्वी के सर्वव्यापी हरे रंग को उन्होंने इस भव-संस्कृति का प्रतीक माना है। पृथ्वी की यह छवि किसे प्यारी नहीं होगी :

हँसते भू के अँग अँग,
हरित हरित रँग!
दूर्वा पुलकित भू-तल,
नवोल्लसित तृण-तरु दल
इंगित करते चंचल—
जीवन का जीवित रँग,
हरित हरित रँग!

इस भव-संस्कृति को कवि बार-बार साकार रूप देना चाहता है। इस नई संस्कृति में धन-भेद नहीं रहेगा, शासक-शासित नहीं रहेंगे, जनों और नागरिकों में भेद-भाव नहीं होगा। प्राचीन धर्म-कर्म के रूढ़ि-बंधन इसे अमान्य रहेंगे। गत संस्कृतियों में जो भी असुन्दर, असत्य और अशिव होगा उसका संहार इस संस्कृति का काम होगा। यह सार्वभौम संस्कृति देश-काल और प्रकृति को जीत कर पृथ्वी पर मानव की विजय घोषित करेगी, किसी एक देश या एक जाति के मानव की-नहीं, अखिल देशों और अखिल जातियों के मानव की। कवि का यह नई संस्कृति का सपना बड़ा मनमोहक है :

तुम हरित कंचु,
सित ज्योति किरण छवि वसना,
भव-संस्कृति की नव प्रतिमा!
निर्धन समृद्ध शासक शासित,
तुमको समान संस्कृत प्राकृत,
गत धर्म-कर्म, मृत रूढ़ि-रीति तम अशना,

नव मानवता की महिमा !
संहार मग्न तुम सृजन लग्न,
कर राष्ट्र वर्ग बल भेद भग्न,
भरतीं समत्व जगती में, तुम दिशि-रशना,
नवयुग की गौरव गरिमा
कर देश-काल औ' प्रकृति विजित,
विज्ञान ज्ञान इतिहास ग्रथित,
मानव की विश्व विजय से तुम स्मित-दशना
पृथ्वी की स्वर्ग-मधुरिमा ।

इस नई विश्व संस्कृति में मनुष्य आकाश की ओर नहीं ताकेगा। आकाश के देवी-देवताओं ने कई हज़ार वर्ष से मनुष्य को कल्पना-जड़ित कर रखा है। मनुष्य आकाश-कल्पी बन गया। वह सत्य से पराङ्मुख हो गया है। अपने ही कल्पित आदर्शों और स्वप्नों का बंदी मानव आज कुंठित है। इसी से आज उसे एक बार फिर पृथ्वी का जादू जाग्रत करना होगा। वह भू की ओर देखेगा। कवि का संदेश है :

देखो भू को !
जीव-प्रसू को !
हरित-भरित
पल्लव-मर्मरित
कूजित गुंजित
कुसुमित
भू को !
कोमल चंचल शाद्वल अंचल,
कलकल छलछल चलचल निर्मल,
कुसुम-खचित मारुत-सुरभित
खग-कुल-कूजित प्रिय-पशु-मुखरित

**जिस पर अंकित सुर-मुनि - वंदित मानव पद-तल !**
**देखो भू को,**
**स्वर्गिक भू को,**
**मानव-पुण्य-प्रसू को !**

भू-प्रसू मानव जड़ पशु नहीं है। वह पशु-प्रिय निद्रा, भय, मैथुनाहार से ऊपर उठकर दैवी आलोक की ओर बढ़ता है। यही उसका मानवत्व है। मानव का यह ईश्वरत्व कवि का दूसरा युग-संदेश है। वह उद्घोषित करता है—

**मानव को आदर्श चाहिये,**
**संस्कृति, आत्मोकर्ष चाहिये;**
**वाह्य विधान उसे हैं बंधन**
**यदि न साम्य उनमें अंतरतम !**
**मूल्य न उनका चींटी के सम**
**वे हैं जड़, चींटी है चेतन !**
**जीवित चींटी जीवन-वाहक,**
**मानव जीवन का वर नायक,**
**वह स्वतंत्र, वह आत्मविधायक !**
**पूर्ण तंत्रमानव, वह ईश्वर,**
**मानव का विधि उसके भीतर !**

प्रकृति को जीत कर ही मानव इस पृथ्वी पर अपना ईश्वरत्व प्रमाणित कर सकता है। वह प्रकृति-शिशु है। भय में उसका जन्म हुआ है। भय ही उसे पाथेय मिला है। मोह, बन्धन, सुख और ऐश्वर्य के सपने ये सब इस मूल भय-भावना का ही रूपांतर हैं। मानव इनसे ऊपर उठ कर ही मानव है। इस भय-भावना ने ही जाति-धर्म के अनेक भेद-प्रभेद-खड़े कर दिये हैं। राष्ट्र-भेद के मूल में भी स्वरक्षा और भय की भावनाएँ हैं। इस भय पर विजयी होना होगा। युग-युग से प्रकृति-मानव में संघर्ष चल रहा है। शीत-ताप, दिन-रात, सुख-दुख, ह्रास-विकास—इन द्वन्द्वों को जीत कर ही मनुष्य आगे

बढ़ सका है। आज उसे जीवन से विमुख नहीं होना होगा। प्रकृति आज उससे हार गई है। स्वयं मनुष्य उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसीलिए मनुष्य प्रकृति से उत्साह लेता है। जीवन की जो शक्ति, जो चेतना, जो स्फूर्ति प्रकृति के बहुविधि रूप-रंग-विलास में स्फुरित होती है, उसके प्रति मनुष्य का आकर्षण स्वाभाविक है। 'जीवन-स्पर्श' शीर्षक कविता में कवि ने इस भाव को बड़ी सावधानी से अंकित किया है—

> **क्यों चंचल व्याकुल जन!**
> **फूट रहा मधुवन में जो सौन्दर्योल्लास,**
> **कलि-कुसुमों में राग-रंगमय शक्ति-विकास,**
> **आकुल उसी के लिए जनमन!**
> **दौड़ रही रक्तिम पलाश में जीवन-ज्वाल,**
> **आम्र बौर में मदिर गंध, तरुओं में तरुण प्रवाल;**
> **विहग-युग्म हो विह्वल सुख से आप**
> **पंखों से प्रिय पंख मिला करते हैं प्रेमालाप!**
> **अखिल विघ्न, भय बाधाएँ कर पार,**
> **शीत, ताप, झंझा के सह बहु वार,**
> **कौन शक्ति सजती जीवन का वासंती श्रृंगार?**
> **सभी उसी के लिए विकल मन!**
> **उसी शक्ति का पाने जीवन-स्पर्श**
> **रोम-रोम में भरने विद्युत हर्ष**
> **चिर चंचल व्याकुल जन**

परन्तु प्रकृति और मनुष्य का चिर विरोध भी उतना ही सत्य है। इस विरोध के द्वारा ही मनुष्य प्रकृति के द्वन्दों से ऊपर उठता है और अपने भीतर बाहर विजय प्राप्त करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'युगवाणी' में पंत ने नए मूल्यों का सृजन किया है। यह नए मूल्य बहुत कुछ मार्क्सवादी मूल्य हैं परन्तु कवि ने अपने

प्राणों का रस देकर उन्हें सुन्दर और सुबोध बना दिया है। 'युगवाणी' में सिद्धान्तवाद की गंध आती है, परन्तु ऐसा होना स्वाभाविक था। यह काव्य के लिए कोई बड़ा दूषण नहीं कहा जा सकता। गोरखनाथ, कबीर और तुलसी की वाणी में कुछ कम सिद्धांतवाद नही है। केवल इसी कारण इन कवियों का काव्य लांछित नहीं हो जाता है। देखना यह है कि कवि ने अपने सिद्धांतों को अपने जीवन-रस से कितना सम्बन्धित किया है। यह सच है कि पंत की संयत वाणी में उतनी उत्तेजना नहीं है, उतना आग्रह नहीं है जितना कबीर या तुलसी की वाणियो में परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन महाकवियों की तरह उन्होंने भी जनहित का स्वप्न देखा है और उस स्वप्न को अपने रक्त से सींचा है। उनके इन स्वप्न से बुद्धि का कोई विरोध नहीं। वास्तव में बुद्धिवाद ही इस स्वप्न की भित्ति है। परन्तु बुद्धि की प्रेरणा होने पर भी स्वप्न की स्फूर्ति तो उसमें है ही।

पंत का कहना है कि हमारी संस्कृति ऊर्ध्वमूल होने के कारण निर्बल है। जनता से वह प्राण-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकी है। इसलिए उसे बदलना होगा। विगत युगों की संस्कृतियों के उपादान आज निर्बल और भ्रांति पूर्ण हैं। उन्हे छोड़ना होगा। 'मूल्यांकन' कविता में कवि ने जन-संस्कृति के निर्माण का एक चित्र इस प्रकार दिया है। वह कहता है—

**विगत सत्य, शिव सुन्दर करता नहीं हृदय आकर्षित,**
**सभ्य, शिष्ट औ' संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित!**
**संस्कृति, कला सदाचारों से भव - मानवता- पीड़ित!**
**स्वर्ण-पींजड़े में बंदी है मानव -आत्मा निश्चित!**
**आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित, शोषित जन;**
**जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव- मुख हरता मन!**
**मूढ़ असभ्य, उपेक्षित, दूषित, भू के चिर उपकारक,**
**धार्मिक, उपदेशक, पंडित, दानी ये लोक-प्रतारक,**

धर्म, नीति, औ' सदाचार का मूल्यांकन है जनहित,
सत्य नहीं वह, जनता से जो नहीं प्राण-सबन्धित !

परन्तु आज सभ्यता और संस्कृति को जनता से प्राण-सम्बन्धित करना इतना सरल नहीं है। जिस जनता के आधार पर कवि नई संस्कृति की नींव रखना चाहता है, वही विगत युगों के जड़ स्वप्नों से मृतप्राय बनी हुई है। जिन ग्रामों में जनता का निवास है वे सब कहीं मूर्च्छा से जैसे स्तब्ध हो रहे हैं। गांवों की यह विडंबना एक क्षण के लिए कवि को भी हतप्रभ बना देती है। वह सोचता है—

यहां धरा का मुख कुरूप है;
कुत्सित गर्हित जन का जीवन
सुन्दरता का मूल्य वहां क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन !
जहां दैन्य-जर्जर असंख्य-जन
पशु जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ों से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन !

(ग्राम-कवि)

घर घर के बिखरे पन्नों में नग्न क्षुधार्त कहानी,
जन-मन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न वाणी !
मानव-दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत मर्मांतक
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक !

(ग्राम)

यहां खर्व नर (बानर) रहते युग-युग से अभिशापित
अन्न-वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित !
यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम,—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित !

झाड़-फूंस के विवर—यही क्या जीवन-शिल्पी के घर ?
कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि-प्राण नारी-नर ?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहां के जग में,
गृह-गृह में कलह, खेत में कलह, कलह है मग में !

निश्चय ही यह भू-स्वर्ग नहीं है। इस नरक के आधार पर हम मानव के लिए कौन-सी संस्कृति गढ़ सकेंगे ? यही गांव हमारी संस्कृति का आधार कहे जायेंगे ? यही गँवई गाँव के लड़के हमारी संस्कृति का भार वहन कर सकेंगे :

मिट्टी से भी मटमैले तन
अधफटे, कुचेले जीर्ण वसन,
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन !
कोई खंडित, कोई कुंठित,
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित ,
टहनी सी टाँगें, बड़ा पेट,
टेढ़े-मेढ़े , विकलांग घृणित !
विज्ञान-चिकित्सा से वंचित,
ये नहीं धात्रियों से रक्षित,
ज्यों स्वास्थ्य-सेज हो, ये सुख से
लोटते धूल में चिर परिचित

( गाँव के लड़के )

परिस्थिति की ऐसी ही विडबना है, परन्तु कवि के मन में जो गाँव का चित्र भूल रहा है उसके लिए वह कभी भी क्षमाप्रार्थी नहीं होगा। गाँव जो आज है वे कल नहीं रहेंगे। तब नगर-ग्राम एक ही प्रकार से सुन्दर, एक ही प्रकार से राष्ट्र की सम्पत्ति बन जायेंगे। तब कवि का सपना सफल होगा। उस पुण्यदिन कवि कह सकेगा—

ग्राम नहीं वे ग्राम आज
औ' नगर न नगर जनाकर,
मानव कर से निखिल प्रकृति जग
संस्कृत, सार्थक सुन्दर
देश राष्ट्र वे नहीं,
जीर्ण जग पतझर त्रास समापन;
नील गगन है; हरित धरा;
नव युग : नव मानव-जीवन।
आज मिट गये दैन्य-दुःख,
सब क्षुधा-तृषा के क्रन्दन,
भावी स्वप्नों के पट पर
युग-जीवन करता नर्तन।

उस दिन ग्राम की रूढ़ियाँ, युग-कर्दम, जीर्ण मान सब नष्ट हो जायेंगे। उस दिन जनसंस्कृति का नया पृष्ठ खुलेगा।

'ग्राम्या' में कवि ने ग्राम-जीवन और जनजीवन को अत्यंत निकट से देखा है। गांव की प्रकृति का अपार दान और गाँव की जनता का अपार अज्ञान उसे चकित किये हैं। परन्तु गाँव में भी जीवन-विकास के अनेक तत्व छिपे हैं। वहाँ भी सुख-दुख, हास-प्रमोद और मिलन-वियोग की गंगा-जमुना बह रही है। ग्राम-श्री हमारा मन हर लेती है :

रोमांचित सी लगती वसुधा
आई जौ गेहूँ की बाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियां हैं शोभाशाली।
उड़ती भीनी तैलाक्त गंध,
फूली सरसों पीली-पीली,
लो, हरित धरा से झांक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली।

रँग रँग के फूलों में हिलमिल
हँस रही संखिया मटर खड़ी।
मखमली पेटियों सी लटकी
छीमियां, छिपाए बीज - लड़ी।
फिरती हैं रँग-रँग की तितली
रँग-रँग के फूलों पर सुन्दर,
फूले फिरते हों फूल स्वयं
उड़-उड़ वृंतों से वृंतों पर।

परन्तु ग्रामयुवती तो बरबस हमें अपना बना लेती है—

कानों मे गुड़हल
खोंस,—धवल
या कुँई कनेर, लौध-पाटल;
वह हरसिंगार से कच सँवार,
मृदु मौलसिरी से गूँथ हार,
गउओं संग करती बन-विहार,
पिक-चातक के सँग दे पुकार,
वह कुंद, काँस से,
अमलतास से,
आम्र-मौर, सहजन, पलाश से,
निर्जन में सज ऋतु - सिंगार।
तन पर यौवन सुखमाशाली,
मुख पर श्रमकण, रवि की लाली,
सिर पर घर स्वर्ण शस्य डाली,
वह मेंडों पर आती जाती,
उरु मटकाती,
कटि नचकाती,

चिर वर्षातप हिम की पाली
धनि श्याम बरण,
अति क्षिप्र चरण,
अधरों से धरे पकी बाली।

ग्राम के सामूहिक जनोत्सव भी कम आकर्षक नहीं हैं। कभी धोबियों का नृत्य है:

लो, छुन छुन, छुन छुन,
छुन छुन, छुन छुन,
ठुमुक गुजरिया हरती मन!
उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ हुड़क घुड़कता ठिम ठिम ठिन,
मंजीर खनकते खिन खिन खिन,
मद-मस्त रजक, होली का दिन,
लो, छुन छुन, छुन छुन,
छुन छुन, छुन छुन,
थिरक गुजरिया हरती मन!
वह काम-शिखा – सी रही सिहर
नर की कटि में लालसा-भँवर;
कँप कँप नितंब उसके थर थर
भर रहे घंटियों में रति स्वर!
लो, छुन छुन, छुन छुन,
छुन छुन, छुन छुन,
मत्त गुजरिया हरती मन,

कभी चमार नाच रहे हैं—

अ र र ...

मचा खूब हुल्लड़ हड़दंग,
घमक घमाघम रहा मृदंग,

उछल-कूद, बकवाद, झड़प में,
खेल रही खुल हृदय-उमंग,
यह चमार चौदस का ढंग।
ठनक कसावर रहा ठनाठन,
थिरक चमारिन रही छुनाछुन,
झूम झूम बाँसुरी करिंगा
बजा रहा, बेसुध सब हरिजन,
गीत नृत्य के सँग है प्रहसन!

कभी कहारों का रुद्र नृत्य है :

फड़क रहे अवयव-आवेश विवश मुद्राएँ अंकित,
प्रखर लालसा की ज्वालाओं सी अँगुलियाँ कंपित;
उष्ण देश के तुम प्रगाढ़ जीवनोल्लास से निर्भर,
वर्हभार उद्दाम कामना के-से खुले मनोहर!
एक हाथ में ताम्र डमरु धर, एक शिवा की कटि पर,
नृत्य-तरंगित रुद्र पूर-से तुम जनमन के सुखकर!

इन सामूहिक उत्सवों में कवि जनता के हृदय की सुषमा से परिचित होता है, जनसंस्कृति के स्वप्न उसके मन में मँडराने लगते हैं। उसे यह निश्चय हो जाता है कि मानव की मूल संस्कृति यही है। सभ्यता के चश्मों के भीतर से जो हम संस्कृति के रूप में देखते हैं, वास्तव में वह इतनी कृत्रिम वस्तु है कि हमें उस पर गर्व नहीं हो सकता।

यह स्पष्ट है कि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में कवि ने अपने युग को एक नये दृष्टिकोण से देखा है। 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' का मंगलाशी कवि अब आधुनिक सभ्यता और आधुनिक जीवन की विषमताओं को देखकर आशीःवाची बना हुआ निष्क्रिय नहीं बैठा रह सकता। वह नये जीवन के लिए कोई संदेश देना चाहता है। उसे न मार्क्सवाद पूरी तरह ग्राह्य है, न गांधीवाद (या अध्यात्मवाद)। उसने दोनों का समन्वय उपस्थित करने

का प्रयत्न किया है। वह स्वयं कहता है—"मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनों का सश्लेषण करने का प्रयत्न किया है ×××× पदार्थ ( मैटर ) और चेतना ( स्पिरिट ) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।

××××× सामाजिक जीवन के साथ मनुष्य की अन्तर्चेतना में भी युगांतर होना अवश्यंभावी है।" परन्तु वह इतने पर ही संतोष नहीं कर लेता। वह मनुष्य के संस्कारों को भी बदलना चाहता है":—······मनुष्य का राग-तत्व······पिछले युग के संस्कारों से रंजित और सीमित है। इस रागतत्व को अपने विकास के लिए भविष्य में अधिक ऊर्ध्व एव व्यापक धरातल चाहिए। वर्तमान नारी-जागरण और नारी-मुक्ति के आंदोलन उस धरातल पर पहुँचने के लिए सोपान-मात्र हैं। × × मनुष्य स्वभाव को संस्कृत बनाने के लिए रागात्मिका प्रवृत्ति का विकास होना अनिवार्य है। वह एक मूल प्रकृति है। इस वृत्ति के विकास से मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुँच जायगा और संसार में नर-नारी-सम्बन्धी रागात्मक मान्यताओं में प्रकारांतर हो जाएगा। स्त्री-पुरुष भौतिक विज्ञान-शक्ति से संगठित भावी लोकतंत्र में रहने योग्य संस्कार-विकसित प्राणी बन सकेंगे। तब शायद धरती की चेतना स्वर्ग के पुलिनों को छूने लगेगी।" पंत के नई संस्कृति के इस संदेश में कई तत्व हैं : १—मार्क्सवाद और गांधीवाद (अध्यात्मवाद) का समन्वय

२—वस्तु-जगत और आत्म-जगत के बीच बहने वाले जीवन के लोकोत्तर सत्य का अनुसंधान

३—सामाजिक जीवन के साथ मनुष्य की अंतर्चेतना का पुनर्संगठन

४—युग की नई विचारधारा के अनुसार मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति का संस्कार। इस प्रकार कवि केवल भौतिक उन्नयन नहीं चाहता। बहिरंतर रूपांतर हो। ग्राम हमारी संस्कृति की इकाई हो। ग्रामों में रहने

वाली जनता के कुसंस्कारों का नाश हो और उनकी सहज स्फूर्ति और सहज अनुभूति के आधार पर नई संस्कृति का निर्माण हो। नारी नर से स्वतंत्र जीवन की महत्वपूर्ण इकाई बन जाये। पुरुष-नारी की कामेच्छा अन्न-जल की इच्छा की तरह स्वाभाविक और स्वस्थ वृत्ति बने। श्रम ही इस नई संस्कृति का मूल-भूत सिद्धांत बने जिससे कोई किसी का शोषण नहीं कर सके। परन्तु सामाजिक जीवन के इस पुनर्संगठन के साथ मनुष्य के अंतर्जगत का भी पुनर्संगठन हो। दया, क्षमा, सहयोग, सत्य, अहिंसा इत्यादि उपयोगी जीवन-तत्त्वों का उपार्जन आवश्यक समझा जाये। मध्य युग में नेताओं की दृष्टि अंतर्जगत के संजीवी तत्त्वों पर ही अधिक थी, आज हम अन्न-वस्त्र पर ही अधिक बल देते हैं। दोनों दृष्टिकोण संकीर्ण हैं। मनुष्य को एक ही समय एक साथ दोनों तत्वों का उपार्जन करना होगा। तभी वह नए स्वर्ग का अवतरण देख सकेगा। नई संस्कृति के अनुरूप ही जन-हृदय भी गढ़ना होगा। कला, साहित्य और संगीत के जो तत्व मध्ययुग की संस्कृति के प्रमुख अंग थे वे आज मृतप्राय हैं। आज युग के अनुरूप नई रागात्मिका दृष्टि का अन्वेषण करना होगा। इस प्रकार वहिर्जगत, अंतर्जगत और रागात्मिकता के पुनर्निर्माण के द्वारा हम नए मानव को नए ढंग से गढ़ सकेंगे। स्वस्थ ग्रामीण संस्कृति के साथ नागरिक संस्कारों का योग होगा और देशकाल के बंधन को तोड़कर कालांतर में यह संस्कृति विश्व संस्कृति बन जायेगी। तब जनयुग का आरम्भ होगा।

कवि की दृष्टि में आज राजनीति का प्रश्न ही संसार के सामने नहीं है। विल्की और जवाहरलाल राजनीति के क्षेत्र में एक विश्व-सभा (World-Parliament) की बात सोच रहे हैं। परन्तु अभी उतने से जगत का निस्तार नहीं है। पंत संस्कृति के प्रश्न को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। वह स्पष्ट कहते हैं—

**राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सन्मुख,**
**अर्थ-साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुख।**

व्यर्थ सकल इतिहासों, विज्ञानों का सागर-मंथन,
वहाँ नहीं युग-लक्ष्मी, जीवन - सुधा, इंदु जनमोहन!
आज वृहद् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग-युग की होना है नवनिर्मित,
विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।

(संस्कृति का प्रश्न)

जीवन की गति ही हमें इस सार्वभौम संस्कृति के निर्माण की ओर ले जा रही है। महायुद्धों की विनाश-दुंदभी के गर्जन-स्वरों में इसी जन-संस्कृति का जयघोष है। विज्ञान के नये-नये साधन वार्ता, विचार, संस्कृति और संगीत के क्षेत्र में मानव-मानव को समीप ला रहे हैं। इसी से कवि वैज्ञानिक सुविधाओं और यंत्रवाद का विरोध नहीं करता। उसके लिए यह जड़ यंत्र ही मनुष्यता के विकास के साधन हैं—

जड़ नहीं यंत्र वे भाव-रूप: संस्कृति द्योतक:
वे विश्व - शिराएँ, निखिल सभ्यता के पोषक।
रेडियो, तार औ' फ़ोन,—वाष्प, जल, वायुयान,
मिट गया दिशावधि का जिनसे व्यवधान मान,
धावित जिनमें दिशि दिशि का मन,—वार्ता, विचार,
संस्कृति, संगीत,—गगन में झंकृत निराकार।
जीवन सौन्दर्य प्रतीक यंत्र: जन के शिक्षक:
युग-क्रांति - प्रवर्तक औ' भावी के पथ - दर्शक।
वे कृत्रिम, निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित,
मानव भी यंत्र, विविध युग स्थितियों में वर्धित।
दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यंत्र जड़, मानव कृत,
वे हैं अमूर्त: जीवन - विकास की कृति निश्चित।

(सूत्रधर)

इस दृष्टिकोण में मार्क्सवाद, गांधीवाद, अध्यात्मवाद और विज्ञानवाद का समन्वय हो जाता है। पंत का यह दृष्टिकोण इतना विकसित, इतना पूर्ण, इतना प्रगतिशील है कि हम संकोच-रहित हो उसे संसार के चिंतकों, राजनीतिज्ञों और कवियों के सम्मुख रख सकते हैं। पश्चिम के अनेक तर्कवाद आज निरर्थक और एकांगी हो गए हैं और पूर्व का अध्यात्मवाद आज के विज्ञान के युग में उपहास-मात्र रह गया है। पंत का समन्वय भावी पीढ़ियों के लिए नई सस्कृति की आधारशिला बन सकता है, इसमें संदेह नहीं।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पंत की विचारधारा ने ही नई दिशा नहीं बदली है, उनके सौन्दर्य, भाषा और मूर्तिमत्ता सम्बन्धी दृष्टिकोणो मे भी अंतर हो गया है। इन संग्रहों में प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ अनेक हैं। स्वयं कवि के शब्दों में ये कविताएँ उनकी 'अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में अपनी विशेषता रखती हैं।' अबतक की प्राकृतिक कविताओं में सौन्दर्य की मांसलता कवि की विशेषता थी जिसे कल्पना और कला के नए-नए रूप-विधानों के माध्यम से कवि अभिव्यजित करता था। इन नई कविताओं में उसका दृष्टिकोण ही बदल गया है—"पत्ते की मांसल हरियाली को जब कीड़े चाट जाते हैं, सूक्ष्म स्नायुवों से बुनी हुई हथेली का कला-विन्यास जिस प्रकार देखने वालो को आश्चर्यचकित कर देता है उसी प्रकार की मिलती-जुलती हुई सौन्दर्य संक्राति की झांकी आप युगवाणी में भी पायेंगे।" (युगवाणी—'दृष्टिपात' पृ० क) इन कविताओं में कवि प्रकृति को भावुकता की दृष्टि से नहीं देखता। उसने रहस्यवादी और आदर्शवादी चश्मे अपनी आँखों से उतार दिये है। वह वस्तु-सत्य का उपासक बन गया है। झंझा में नीम का चित्रण देखिये—

> **सर् सर् मर् मर्**
> **रेशम के से स्वर भर,**
> **घने नीम दल**

लंबे, पतले, चंचल,
श्वसन-स्पर्श से
रोमहर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल !
वृक्ष-शिखर से भू पर
शत शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा, लो, निर्झर
मरुत—कम्प्र, अर !
झूम झूम, झुक झुक कर,
भीम नीम-तरु निर्भर
सिहर-सिहर थर् थर् थर्
करता सर् सर्
चर् मर् ।

इसमें न पल्लव के प्रकृति-चित्रों जैसा कल्पना-विलास है, न 'गुंजन' के प्रकृति-चित्रों जैसा विशद चित्रण। कवि यथार्थवादी ढंग से प्रकृति के प्रत्येक क्षण को पकड़ने की चेष्टा करता है। अब वह केवल कुछ विशेष वस्तुओं को ही सुन्दर नहीं मानता। सुन्दरता के प्रति उसके दृष्टिकोण में अब आमूल परिवर्तन हो गया है। आज इस धरती की सारी चीज़ें उसे सुन्दर हैं। वह कहता है—

इस धरती के रोम-रोम में
भरी सहज सुन्दरता,
इसकी रज को छू प्रकाश
बन मधुर विनम्र निखरता !
पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर,

कूड़ा-करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक सुन्दर।
(मानवपन)

साँझ और प्रभात भी अब नई सुषमा में रँगे आते हैं। कवि मानव से प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। मानव के माध्यम से ही वह प्रकृति को देखता है। इसीलिए 'गंगा का साँझ' और 'गंगा का प्रभात' जैसी कविताओं में उसका मानववादी दर्शन व्याप्त है। अब प्रकृति की अपेक्षा मानव उसे सुन्दरतर लगता है। वह कहता है—

मधुर प्राकृतिक सुखमा यह
भरती विषाद है मन में,
मानव की सजीव सुन्दरता
नहीं प्रकृति-दर्शन में!

परन्तु शुद्ध प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी इन कविताओं की स्वस्थ, जीवन की सहज अनुभूति से बलवती रूपरेखाएँ महत्वपूर्ण हैं। गंगा की सांझ का एक चित्र है—

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश-सा,
गंगा के उस पार,
क्लांत पांथ जिह्वा विलोल
जल में रक्ताभ प्रसार!
भूरे जलदों से धूमिल नभ—
विहग-पंख-से बिखरे—
धेनु-त्वचा-से सिहर-रहे
जल में रोओं से छितरे।
दूर, क्षितिज में चित्रित-सी
उस तरु-माला के ऊपर

उड़ती काली विहग-पांति
रेखा सी लहरा सुन्दर ।
उड़ी आरही हलकी खेवा
दो आरोही ले कर,
नीचे ठीक तिर रहा जल में
छाया - चित्र मनोहर

भूरे जलदों की धेनु-त्वचा से उपमा देना सचमुच अनोखी सूझ है। कवि कल्पना के आकाश से उतर कर अपनी जानी - पहचानी दुनिया से ही अपनी काव्य - सामग्री इकट्ठी करना चाहता है। इसीलिए साधारण- सी बात भी उसके काव्य में असाधारण महत्व ग्रहण कर लेती है। रेखाचित्र में इसी कला का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है :

चांदी की चौडी रेती,
फि.र स्वर्णिम गंगा - धारा,
जिसके निश्चल उर पर विजड़ित
रत्नछाय नभ सारा !
फिर बालू का नासा
लंबा ग्राह-तुंड सा फैला
छितरी जल-रेखा—
कछार फिर गया दूर तक मैला !
जिस पर मछुओं की मॅडई
औ' तरबूज़ों के ऊपर
बीच-बीच में, सरपत के मूँठे
खग - से खोले पर !

यह स्पष्ट है कि कवि अब प्रकृति के अतर्साम्य की अपेक्षा उसके वाह्य जीवन पर ही अधिक बल देता है। वह बड़ी सतर्कता से एक-एक वस्तु को परखता चलता है— जैसे वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहता, जैसे वह

पृथ्वी से ऊपर उठकर आकाश की ओर ज़रा भी देखना नहीं चाहता। जन-जीवन को चित्रित करने के लिए जैसे उसने जन-समाज की भाषा और लोक-जीवन की शैलियों को ग्रहण किया है उसी तरह प्रकृति-चित्रण में वह 'पल्लव' के हिमालय-शिखरों से उतर कर गंगा-जमुना की रेती पर अपनी चित्रपटी और तूलिका लेकर बैठ गया है।

कुछ भाषा के सम्बन्ध में भी। 'युगवाणी' को हिंदी संसार के सामने लाते हुए पंत ने लिखा था: "युगवाणी की भाषा सूक्ष्म है, उसमें विश्लेषण का सौन्दर्य है"। इन कविताओं में उन्होंने गीत-गद्य कहा है और उसकी व्याख्या में लिखा है: 'युगवाणी' को मैंने गीत गद्य इसलिए नहीं कहा है कि उसमें काव्यात्मकता का अभाव है; प्रत्युत, उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलकृत तथा विचार-भावना-प्रधान है। युग के खंडहर पर युगवाणी का काव्य-सौन्दर्य प्रभात के ईषत् स्वर्णिम आतप की तरह बिखरा हुआ है जिसे कलाप्रेमी, ध्वंस के ढेर से दृष्टि हटाकर सहज ही देख सकते हैं'' — बात बहुत दूर तक ठीक है। 'पल्लव' की किसी भी कविता को 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की किसी भी कविता के सम्मुख रखिये, भाषा और शैली का भेद स्पष्ट हो जायेगा। अधिकांश कविताओं में कवि ने रंगीनी को छोड़ दिया और छैनी-हथोड़े के अनुरूप नई भाषा-शैली गढ़ी है। कठोर, कर्मठ, व्यावसायिक परन्तु प्राणों के बल से बलवती। उसमें भावों की अपेक्षा कर्म की प्रेरणा अधिक है। नए-नए विषयों के अनुरूप कवि को नई-नई भाषा-शैली का निर्माण करना पड़ा है। कहीं-कहीं पुराने रोमांस के स्वर बजे उठते हैं, परन्तु फिर भी कवि सतर्क है। उसकी वाणी को अब अलंकार नहीं चाहिये, वह कवि के विचारों का वाहन बन कर ही सार्थक है। संध्या के बाद का एक चित्र देखिये—

> **लौटे खग, गाएँ घर लौटीं, लौटे कृषक श्रांत श्लथ डग धर;**
> **छिपे गृहों में म्लान चराचर, छाया भी हो गई अगोचर।**
> **लौट पैंठ से व्यापारी भी जाते घर, उस पार नाव पर,**

**ऊँटों घोड़ों के संग बैठे, खाली बोरों पर हुक्का भर।**
**जाड़ों की सूनी द्वाभा में भूल रही निशि - छाया गहरी,**
**डूब रहे निस्प्रभ विषाद में खेत, बाग, गृह, तरु, तट, लहरी!**
**बिरहा गाते गाड़ी वाले भूँक भूँक कर लड़ते कूकर,**
**हुआ हुआ करते सियार, देते विषएण निशि बेला को स्वर!**

यहां काव्य का जो अनालकृत, तथ्य-प्रधान, वस्तुवादी रूप है, वह कवि की वाणी को इस धरती का गौरव प्रदान करता है, आकाश की रहस्यमयता उसमें नहीं रही है। परन्तु कविता की भाषा धरती के बोलों की कब तक उपेक्षा करेगी?

---

# ५

## चेतनावाद: 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि'

१९४७ में कवि की दो नई रचनाएँ प्रकाशित हुईं—'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्णधूलि'। इन दोनों रचनाओं में कवि की १९४१ से १९४७ तक की रचनाएँ संग्रहीत हैं। इन ६-७ वर्षों में व्यक्तिगत रूप से कवि को बहुत कुछ झेलना पड़ा। वह एक बार फिर मृत्यु-शय्या तक पहुँच गया था। जीवन की सारी आशा जाती रही थी। पत्रों में कवि की मृत्यु का समाचार भी प्रकाशित हो गया। यह भूल न जाने कैसे हुई, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि १९४० के बाद कवि जहां वाह्य जगत के दुःखों के संपर्क में आया, वहाँ उसे स्वयं दीर्घकालीन रोग, अस्वास्थ्य और मृत्यु-भय का अनुभव करना पड़ा। स्वस्थ होने पर कवि कुछ दिनों पांडिचरी के अरविंद आश्रम में रहा। उसके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। अरविंद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ा। फिर कवि ने सास्कृतिक पुनरुद्धार के लिए प्रयत्न करना चाहा और प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर के साथ सांस्कृतिक चित्रपटों की तैयारी मे लगा। 'कल्पना' नाम से एक ऐसा सांस्कृतिक चित्रपट हमारे सामने आया है।

'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की रचनाओं को इस पृष्ठभूमि में रखकर देखना होगा। उसी समय हम कवि के मानसिक विकास का क्रमिक अध्ययन उपस्थित कर सकेंगे। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की विचार-धारा पर हमने पिछले परिच्छेद में विस्तृत रूप से विचार किया है। यह स्पष्ट है कि 'गुंजन' के सहज मानववाद और मगलाशा के बाद कवि ने एक बड़ा क़दम उठाया। उसने ससार के सामने एक भू-स्वर्ग का आदर्श उपस्थित करना चाहा और इस भू-स्वर्ग के अनुरूप एक भू-संस्कृति की

योजना की बात उठाई। इस भू-संस्कृति में मार्क्सवाद, गांधीवाद, अध्यात्म-वाद और विज्ञान-वाद का पूर्ण समन्वय उपस्थित था। कवि विज्ञान के सारे विकास को स्वीकार करता है, परन्तु भूतवाद उसे ग्राह्य नहीं है। वह यह जानता है कि विज्ञान के आधुनिक विकास—वाष्प, रेडियो, तार, अणु-शक्ति आदि के बिना एक मानव-संस्कृति ( या भू-संस्कृति ) की बात ही नहीं उठ सकती थी। परन्तु जहाँ विज्ञान जड़ तत्वों तक ही केन्द्रित रहता है, वहाँ कवि चेतन तत्व का उपासक है। मशीनों के माध्यम से मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण से जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, वह अंतिम परिणति नहीं, यह वह जानता है। मशीनी सभ्यता ने जो वर्ग-संघर्ष उत्पन्न कर दिया है, उसके लिए उसका वही समाधान है जो मार्क्स का। उत्पादन और वितरण की सारी सामग्री सर्वहारा समाज के हाथ में हो। अर्थ-साम्य नई संस्कृति का आधार-स्तंभ बने। परन्तु केवल अर्थ-साम्य से ही मनुष्य की सभी कठि-नाइयों का अंत हो जायगा, ऐसा कवि को मानने का कोई कारण नहीं। वह गांधीवाद ( या अध्यात्मवाद ) द्वारा मार्क्सवाद की जड़ता को दूर करना चाहता है। नई संस्कृति में नैतिक तत्वों का समावेश हो और व्यक्ति-गत जीवन के विकास के लिए, दैवी संपदाओं के संग्रह के लिए, आध्या-त्मिक प्रवृत्तियों का पोषण हो। तभी मानव-जीवन का सर्वांगीण विकास सम्भव है। परन्तु वह यहीं तक जा कर नहीं रुक जाता। वह मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति में भी नए संस्कारों का जन्म देखना चाहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में ही कवि अपने जीवन-दर्शन को सम्पूर्णता देने में सफल हुआ था। हमें यह देखना है कि उसकी परवर्ती रचनाओं ने उसे इस दिशा में कहाँ तक आगे बढ़ाया है।

'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' के कवि का भी एक विराट भू-संस्कृति और एक व्यापक भू-जीवन में विश्वास है, परन्तु अब उसमें अध्यात्म के स्वर अधिक मुखर हो उठे हैं। यह कदाचित् कवि के पुनर्जीवन-प्राप्ति की

प्रतिक्रिया हो या अरविंद के संपर्क की। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका पिछला भू-संस्कृतिवाद इस अगले चेतनावाद से थोड़ा भिन्न है। कवि यह विश्वास करता है कि वह एक विराट चेतना का अंश है। इस विराट चेतना को उसने भू-चेतना कहा है। इस भू-चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाना होगा। प्रत्येक व्यक्ति के अवचेतन मन मे जो स्वर्ण चेतना छिपी है उसे बाहर लाना होगा। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को पहले स्वयं अपने व्यक्तित्व को नई चेतना में संगठित करना होगा। इस प्रकार नई संस्कृति का निर्माण व्यक्ति के पुर्नसंगठन पर निर्भर है। इस दृष्टिकोण से कवि के नए जीवन-दर्शन का केन्द्र व्यक्ति ही बन जाता है। कवि कहता है :

दीपशिखा-सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठकर,
तैल धारवत् मर्म-स्नेह पा
स्वर्ग विभा से दे भूतल भर!
अंतरतर की नीरवता में
जाग्रत हो सुर मादन गुंजन,
खंडित भव विशृंखलता को
बाँध अमर गति-लय में चेतन!

फिर श्रद्धा विश्वास प्रेम से
मानव-अन्तर हो अंतः-स्मित,
संयम-तप की सुन्दरता से
जगजीवन-शतदल दिक्-प्रहसित!
व्यक्ति-विश्व की व्यापक समता
हो जन के भीतर से स्थापित,
मानव के देवत्व से ग्रथित
जन-समाज-जीवन हो निर्मित!

करें आत्मनिर्माण लोकगण
आत्मोज्वल जन-मंगल के हित,
बहिरंतर जड़-चेतन वैभव
संस्कृति में कर निखिल समन्वित !
सहृदयता का सागर हो मन
हृदय-शिला हो प्रेरणा-सरित,
भू-जीवन के प्रति रुचि जन में
मानव के प्रति मानव प्रेरित !

मध्य युग के संतों और वैस्णव भक्तों ने जो आत्म-संस्कार की आवाज़ उठाई थी, वह पंत की इस आवाज़ से भिन्न नहीं है। केवल आज व्यक्ति का आत्म-परिस्कार मुक्तिमात्र का प्रयोजन नहीं है। व्यक्ति जहाँ समाज राष्ट्र या विश्व की इकाई बन जाता है वहां उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति समष्टि से गुम्फित हो जाती है। वह केवल व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहती। इसीलिए जब कवि व्यक्ति के नवचेतना के विकास की प्रार्थना करता है तो वह परोक्ष में अपने भू-स्वर्ग के सपने को ही सार्थक करना चहता है। वह कहता है :

सृजन करो नूतन मन !
प्रार्थी आज मनुज आत्मज मन
नव्य चेतना का भू पर,
जिसकी स्वर्णिम आभा में
विकसित हो नव संस्कृत जीवन;
प्रार्थी आज निखिल मानवता
उठे मृत्यु से वह ऊपर
स्वर्ण शांति में ऐक्य मुक्ति का
भू पर स्वर्ग उठे शोभन।

कवि यह अनुभव है कि व्यक्ति के भीतर अवचेतन और चेतन मन का जो संघर्ष चल रहा है वह उसे धीरे २ आत्मनिष्ठ कारा (Libidio)

से मुक्त कर देगा और तब उसके अवचेतन और चेतन में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। तन-मन का द्वन्द्व वास्तव में व्यक्ति के उभय मनो का अंतर्द्वन्द्व है। मानवात्मा चेतन और उपचेतन मन के छाया-दृश्यों के पार चिरज्योतित रूप में प्रतिष्ठित है। उसे उभय मनों के द्वन्द्वों से मुक्त करना जनमुक्ति की सबसे पहली सीढ़ी है :

**तन के मन में कहीं अन्तरित**
**आत्मा का मन है चिर ज्योतित,**
**इन छाया - दृश्यों को जो**
**निज आभा से कर देता जीवित !**
**यह आदान - प्रदान मुझे**
**जाने कैसे क्या सिखलाता है!**
**क्या है ज्ञेय ? कौन ज्ञाता है ?**
**मन भीतर-बाहर जाता है !**
**मन जलता है !**
**मन में तन में रण चलता है,**
**चेतन अवचेतन नित नव**
**परिवर्तन में ढ़लता है !**
**मन जलता है !**

**(छाया-पट)**

इस प्रकार यहां एक बार फिर नये धरातल पर रहस्यवाद की सृष्टि हो जाती है। केवल इस बार वह मनोविज्ञान, प्राणिशास्त्र और नए सामाजिक ज्ञान की रंगीन पिटारियों में आधुनिकता का रूप लेकर उपस्थित होता है। अब कवि अवचेतन के अंधकार को ही सब कुछ समझने लगा है। भावी संस्कृति का विकास अवचेतन मन के द्वारा ही होगा, कवि को ऐसा विश्वास है। वह इस अंधकार की जय के गीत गाने लगता है—

ओ हरित भरित घन अंधकार !

× × ×

तुम प्राणोदधि चिर उद्वेलित
जीवन-पुलिनों को कर प्लावित,
जड़-चेतन को करते विकसित
अग जग में भर नव शक्ति-ज्वार !
तुममें स्वप्नों का सम्मोहन,
आकांक्षा की मदिरा मादन,
आवेगों का मधु संघर्षण,
दुर्धर प्रवाह, गति औ' प्रसार !
जग-जीवन को कर परिशोभित,
इच्छाओं के स्तर-स्तर हर्षित,
रागों-द्वेषों से चिर मंथित,
निस्तल अकूल तुम दुर्निवार !
ओ रोमांचित हरितांधकार !

सारी प्रकृति भी चेतना का ही विकास बन जाती है। व्यक्ति की चेतना और विश्व की चेतना में कवि कोई अंतर नहीं करता। यदि हम 'चेतना' की जगह 'ब्रह्म' रख दें, तो यह 'चेतनावाद' 'ब्रह्मवाद' से अभिन्न नहीं ठहरेगा। यह एक प्रकार से आधुनिक वेदांत ही रहेगा। यहाँ मनुष्य के चेतन-उपचेतन मन, व्यक्ति-विश्व और जड़-चेतन में जरा भी अंतर नहीं है। जब सब में एक ही चेतना व्याप्त है तो फिर अंतर हो ही कैसे सकता है। कवि कहता है :

मेरे प्राणों की हरीतिमा
तृण-तरु-दल में पुलकित,
मेरी प्रणय-भावना से ही
कली-कुसुम नित रंजित !
मैं इस जग में नहीं अकेला
मुझको तनिक न संशय,

**वही चाह है कण-कण में**
**जो मेरे उर में निश्चय !**
**मेरे भीतर परिभ्रमित ग्रह,**
**उदित-अस्त शशि-दिनकर,**
**मैं हूँ सबसे एक, एक रे**
**मुझसे निखिल चराचर !**
**(व्यक्ति और विश्व)**

परंतु यह चेतना अभी असंख्य मनुष्यों में प्रसुप्त पड़ी है। अवचेतन मन को व्यक्ति और विश्व की मौलिक एकता में कोई सदेह नहीं है, परन्तु चेतन मन अभी इस भाव से भासमान नहीं हो सका है। इसीलिए भेद-भाव है, मैं-तू है, दुःख और भय है। मन के छाया-छन्दों में प्रसुप्त इस चेतना को जगाना होगा :

**विस्तृत जो हो जाए मानव अंतर, चेतनता विकसित,**
**आत्मा के स्पर्शों से भू-रज सहज हो उठेगी जीवित !**
**अंतर का रूपांतर हो औ' वाह्य विश्व का रूपांतर,**
**नव चेतना विकास धरा को स्वर्ग बना दे चिर सुन्दर !**
**जन-मन के विकास पर निर्भर सामाजिक जीवन निश्चित,**
**संस्कृति का भू स्वर्ग अमर आत्मिक विकास पर अवलंबित !**
**( भू-प्रेमी )**

यह दृष्टिकोण कवि के पिछले दृष्टिकोण से भिन्न है। वाह्य विश्व का रूपांतर विज्ञान द्वारा होगा। कवि को यह सदा मान्य रहा है। परन्तु जब तक अंतर का विकास नहीं होता तब तक संस्कृति का भू-स्वर्ग पृथ्वी पर स्थापित ही नहीं हो सकता। इस भू-स्वर्ग के लिए आत्मिक विकास पहली शर्त है। अवचेतना के मौलिक स्वस्थ तत्वों का चेतनता प्राप्त करना आत्मोन्नति का पहला कदम है। नवचेतना का विकास ही इस धरती को स्वर्ग बना

इस पूर्ण विकसित चेतना और प्रसुप्त मनश्चेतना (अंतर्मन) को कवि ने हिमाद्रि और समुद्र कहा है। पूर्ण विकसित चेतना का सौन्दर्य असीम है:—

वह शिखर शिखर पर स्वर्गोन्नत,
स्तर पर स्तर ज्यों अंतर्विकास;
चढ़ सूक्ष्म सूक्ष्मतम चिद् नभ में
करता हो शुचि शाश्वत विलास!
वह मौन गंभीर प्रशांत ऊर्ध्व
स्थित धी असंग चिर निरभिलास,
आत्मा की गरिमा का भू पर
बरसाता हो अकलुष प्रकाश!
वह निर्विकल्प चेतना-शृंग
उठ स्वर्ग-क्षितिज से भी ऊपर
अंतर्गौरव मे समाधिस्थ
अपनी ही सत्ता पर निर्भर!

परन्तु जगजीवन का विकास तो अवचेतन मन के द्वारा ही संभव है। इसकी गंभीरता, विविधता और सक्रियता भी परिमाण में बँध नहीं सकती:

यह ज्यों अनंत जीवन-वारिधि,
अहरह अशांत औ' उद्वेलित,
जिसके निस्तल गहरे रँग में
अगणित भव के युग अंतर्हित!
जग की अबाध आकांक्षा से
इसका अंतस्तल आंदोलित,
सुख-दुख आशा-आशंका के
उत्थान-पतन से चिर मंथित!
यह मनश्चेतना ज्यों सक्रिय
भू के चरणों पर बिखर-बिखर

**शत स्नेहोच्छ्वसित तरंगों की**
**बाँहों में लेती भू को भर !**

उपचेतन और अवचेतन मन की इस गंभीरता और गरिमा की क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा ही जगजीवन का विकास हो रहा है। अब तक अज्ञात रूप में ऐसा होता रहा है। अब जब मनुष्य विकास की इस प्रकिया को जान गया है तब उसका कर्तव्य है कि वह अवचेतन मानस की विकास की गति को तीव्रतर बनाये।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के अध्ययन से यह तो स्पष्ट था कि कवि ने मार्क्स की अति-सामाजिकता को कभी भी पूर्णतयः स्वीकार नहीं किया था। परन्तु सामाजिकता का विरोध उसने कहीं नहीं किया। इन रचनाओ में हम उसे पहली बार व्यक्तिवाद के स्वरो में बोलते पाते हैं। पहली बार वह व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता का प्रश्न उठाता है। वह जिज्ञासा करता है—

**क्या यह सामाजिक संघर्षण**
**केवल रे मानव का जीवन ?**
**सुन्दरता आनन्द प्रेम के स्वप्न चिरंतन**
**क्या केवल प्रभात के उडुगण ?**
**रिक्त शरद घन ?**
**क्या यह उचित**
**कि यह सामाजिक साधारणता**
**मूल्य व्यक्ति का करे नियन्त्रित ?**
**जंगम जीवन-ज्वर की जड़ता**
**करे मनुज - आत्मा मर्यादित ?**

स्पष्ट ही यह स्वर प्रक्रियावादी है, प्रगतिवादी नहीं। समाज में व्यक्ति की महत्ता को समाजवादी भी स्वीकार करते हैं, परन्तु वह व्यक्ति के मन को सामाजिक मन की आंशिक अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं। वे इससे आगे नहीं बढ़ते। व्यक्तिवाद अध्यात्मवाद और स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज़्म) का प्राण

है। समाज की सामूहिक प्रगति में यह व्यक्तिवाद कहाँ तक सहायक होगा, यह निःसंदेह रूप से नहीं कहा जा सकता। श्री इलाचंद्र जोशी ने अपने एक लेख 'पंत जी की स्वर्ण-चेतना में क्रांतिकारी स्फोट' में इस व्यक्तिवाद की जयध्वनि का उच्चघोष किया है। उन्होंने पंत को समन्वयात्मक प्रगतिवादी कलाकार कहा है। वे कहते हैं—"समन्वयात्मक प्रगतिवादी कलाकार देखता है कि सागर की प्रत्येक बूंद का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और समाज के प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अगाध जीवन तरंगित होता रहता है। अनंत विभिन्न बूँदों की समष्टि ही सागर है और असंख्य स्वतंत्र व्यक्तियों का समूह ही समाज है। समाज की प्रत्येक इकाई समाज के साथ अविच्छिन्न सूत्र में ग्रथित रहने पर भी अपने आप में पूर्ण है। इसलिए वह इन दोनों पहलुओं को बराबर महत्व प्रदान करना चाहता है। वह न तो पूर्णतयः व्यक्तिवादी है न पूर्णतयः सर्वसत्तावादी अर्थ में समष्टिवादी। व्यक्ति और समष्टि का सतुलनात्मक समन्वय ही उसका ध्येय है। इसी ध्येय की पूर्ति और इसी मतवाद के प्रसार के लिए वह अपनी विविध सर्जनात्मिका शक्तियों का प्रयोग करता जाता है। समन्वयात्मक प्रगतिवादी युग की समस्याओं के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक रहता है, पर उन समस्याओं का समाधान वह युग की संकीर्ण और सीमित पृष्ठभूमि पर ही करके छोड़ देने के पक्ष में नहीं है, क्योंकि वह जानता है कि इस संकीर्ण पृष्ठभूमि के आधार पर युग-समस्याओं के जो-जो समाधान पिछले युगों में किये गये हैं वे मानवता को नये-नये जटिल बंधनों और उलझनों में उलझाते रहे हैं। इसलिए वह उनकी स्थायी तथा व्यापक निष्पत्ति के लिए व्यापक ही पृष्ठ-भूमि को अपेक्षित मानता है।" बात कहने में चाहे जितनी सुन्दर हो, इसमें संदेह नहीं कि स्वयं व्यक्तिवाद कोई बहुत क्रांतिकारी चीज नहीं है। उपनिषदों के रहस्यवाद और नीत्शे के अतिमानव से जो परिचित हैं वे जानते हैं कि इन दोनों दार्शनिक दृष्टिकोणों का आधार व्यक्तिवाद ही है। कवि समाज-वाद को व्यक्तिवाद से गौण स्थान देता है। जहाँ व्यक्ति सुन्दर और सुसंस्कृत

होंगे वहाँ समाज आज सुन्दर और सुसंस्कृत बन जायेगा। अतः समाज को बदलने की जिम्मेवारी व्यक्ति पर आती है। मार्क्सवाद में समाज की सामूहिक चेतना को इकाई माना गया है, यहाँ स्वयं व्यक्ति की चेतना एक इकाई है। कवि इस छोटी इकाई को इतना अधिक बल देता है कि हम सहसा चकित हो उठते हैं:

मानव-जीवन नहीं अकूल
अतलता में ही सीमित,
वहां बूँद का मान उदधि से
कहीं अधिक है निश्चित!
बिन्दु सिन्धु? बूँदों का वारिधि
बूँदों पर अवलंबित!
व्यक्ति समाज? व्यक्ति में रहता
अखिल उदधि अंतर्हित!
सागर की असीमता जड़ है,
जन-समाज की जीवित,
सृजन-शक्ति का दूत व्यक्ति
करता समाज को विकसित!

कवि इतना व्यक्तिनिष्ठ हो गया है कि उसे यह पता नहीं चलता कि वह अपने अज्ञान में ही प्रगति-विरोधी शक्तियों का साथ दे रहा है। व्यक्तिवाद पर इतना बल स्पष्ट ही साम्य-भावना का विरोधी है। कवि के दर्शन की प्रगति-विरोधी प्रकृति में हमें संदेह नहीं रह जाता जब हम पढ़ते हैं —

आज अभाव शक्तियां जग में
काँटे बोती हैं पग-पग में,
सामाजिक समता का कटु विष
दौड़ रहा जन की रग-रग में!

यहाँ कवि ने स्पष्टतयः साम्य-भावना को कटु विष कहा है जहाँ व्यक्तिवाद है, वहाँ आगे-पीछे व्यक्तियों की मूलगत असमानता को ही अधिक महत्व दिया जायगा। यह सम्भव नहीं है कि सभी मनुष्य विकास की एक ही सीढ़ी पर हों। व्यक्तिवाद पर बल देने के कारण ही कवि विश्वास, प्रेम, आशा पुरुषार्थ, उच्चाभिलाषा, कला-सृष्टि, सौन्दर्य-दृष्टि—इत्यादि व्यक्तित्वनिष्ठ गुणों को महत्व देने लगा है। यही सामाजिक गुण भी है, यह बात वह कदाचित् भूल गया है। इसीसे उसके जीवन-यंत्र का अवसान उपनिषदों के इन मत्रों में होता है :

**असतो मा सद् गमय,**
**तमसो मा ज्योतिर्गमय ,**
**मृत्योर्मा अमृतं गमय।**

(असत् तमस औ मृत्यु-सलिल में हमें पार कर। सत्य, ज्योति, अमृतत्व धाम दो, जीवन - ईश्वर! ) वैदिक ऋषियो के स्वर में मिला कर वह कहता है :

**अंधः तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते !**
**ततो भूय इव ते तमोयऽ विद्यायां रताः ॥**
**विद्यांचाविद्यां व यस्तद्वेदोभयं सह।**
**अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥**

विद्या क्या है, अविधा क्या है, इसकी परिभाषा देता हुआ कवि कहता है :

**ब्रह्मज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय।**
**भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय !**

कवि भौतिक ज्ञान को अविद्या कहता हुआ भी उसे उपार्जनीय अवश्य बताता है, परन्तु इस विज्ञान के साथ ब्रह्मविद्या (उपनिषद्ज्ञान) को भी उतना ही उपादेय मानता है। यह उसकी अपनी दृष्टि है, ऋषियों की दृष्टि यह नहीं है। वहाँ अविद्या के उपार्जन में कोई श्रेय नहीं है।

इस व्यक्तिवाद के सर्वोच्च शिखर भी अरविंद है। कवि उन्हें अतिमानक

कहता है और उन्हें ईश्वर और अवतार के रूप में याद करता है। जिस चेतना के विकास को उसने अपना जीवन-दर्शन माना है, वही चेतना उसे सबसे विकसित रूप में श्री अरविन्द में ही दिखलाई पड़ी है। इसी से कवि उनके व्यक्तित्व से चमत्कृत है। कवि बदना के स्वरों में गाता है--

**तुम भविष्य के दिव्यालोक, देव, अतिजीवित,**
**मानव-अंतर तुमसे उच्च, अतल, अति विस्तृत;**
**रुद्ध द्वार कर मुक्त हृदय, के चिर तमसावृत,**
**अंतर्जीवन सत्य कर दिया तुमने ज्योतित !**
**अधिमानस से भी ऊपर, विज्ञान भूमि पर,**
**तुम अध्यात्म-तत्त्व के हिमगिरि से स्थित निर्भर !**
**ज्योति मूर्त चेतना ज्वलित हिमराशि सी निखर**
**मर्त्य स्वर्ग के पार उठाए सत्य के शिखर !**
**एक स्तंभ उपनिषद् ब्रह्म विद्या के निश्चय,**
**ज्योति स्तंभ दूसरा देव का शब्द असंशय,**
**दिव्य चेतना सेतु ऊर्ध्व जिन पर ज्योतिर्मय**
**आर पार भव जीवनाब्धि के अतिमानव, जय !**

प्रत्येक व्यक्तिवाद के अंत में अतिमानव स्वभावतः आ ही जाता है। यह दूसरी बात है कि यह नीत्शे या इकबाल के अतिमानव से भिन्न है। नीत्शे का अतिमानव भौतिकवादी है। इक़बाल का अहंवादी और पंत का अध्यात्मवादी। अंतर केवल विशेष दृष्टिकोण का है। वैसे सामान्य जनजीवन से तीनों का कोई सम्बन्ध नहीं। आज का युग अतिमानवों का युग नहीं है। आज का युग सामान्यों का युग है। इसीसे पंत की नवीन विचारधारा का प्रगतिविरोधी रूप स्पष्ट हो जाता है। अरविंद को प्रणाम करता हुआ कवि कहता है—

**विश्वात्मा के नव विकास तुम ,**
**परम चेतना के प्रकाश तुम ,**

ज्ञान भक्ति श्री के विलास तुम ,
पूर्ण प्रकाम,
सकर्म प्रणाम !
दिव्य तुम्हारा परम तपोबल ,
अमृत ज्योति से भर दे भू-तल,
सफल मनोरथ सृष्टि हो सकल
श्री ललाम ,
निष्काम प्रणाम !

इसका अर्थ तो यह हुआ कि कवि यह समझने लगा है कि किसी एक मनुष्य के तप से इस पृथ्वी का सारा दैन्य-दुःख नष्ट हो जायगा और जिस भू-संस्कृति की चर्चा उसने पहले उठाई थी वह अनायास ही संभव हो जायगी।

इस चेतनावाद में मातृवाद भी घुस आया है। शक्ति की कल्पना हमारे अध्यात्म और साहित्य के लिए कोई नवीन कल्पना नहीं है। अरविंद मातृशक्ति के ही उपासक हैं। पत ने चेतना को विश्व की सृजनात्मिका शक्ति के रूप में माना है। उन्होंने उसे मातृचेतना कहा है। यही मातृ-चेतना सृजनशक्ति बनकर जड़ में जीवन विकसित करती है, जीवन में मन और मन में ऊर्ध्वचेतन (स्वर्मन)। सृष्टि का सारा दैवी विकास इसी मातृ-शक्ति के द्वारा हुआ है। बड़ी भक्ति से कवि इस मातृ-शक्ति को याद करता है:

तुम्हीं भक्ति ,
तुम्हीं शक्ति !
ज्ञान-ग्रथित सदनुरक्ति !
चिर पावन
सृजन चरण ,
अर्पित तन।

**मन जीवन !**
**हृदयासने ,**
**श्री वसने !**

अवचेतन मन के विकसित और संस्कृत करने के लिए वह वही सब साधन काम में लाता है जो मध्ययुग के सतों और भक्तों ने आयोजित किये थे। वह कुंठितों और आर्तों को किसी अलौकिक शक्ति को शरण जाने की बात कहता है :

**संभव है, तुम मन के कुंठित,**
**सम्भव है , तुम जग के लुंठित,**
**तुम्हें लोह से स्वर्ण बना प्रभु**
**जग के प्रति कर देंगे जीवित,**
**आओ प्रभु के द्वार !**
**( कुंठित )**

**सब अपूर्ण खंडित इस जग में ,**
**फूलों से काँटे ही मग में ,**
**मृत्यु साँस में, पीड़ा रग में ,**
**आवें हे, आवें सब प्रभु के द्वार !**
**केवल प्रभु की करुणा ही है अक्षय पूर्ण उदार !**
**( आर्त )**

यह प्रभु वास्तव में मनुष्य से अलग कोई दैवी सत्ता नहीं रखता। यह स्वयं मनुष्य के अंतर्मन में व्याप्त वह अमोघ शक्ति है जो जाग्रत होने पर प्राणी को सारे भयों, उपचेतना और अवचेतना के सारे द्वन्दों से मुक्त कर देती है। इसे ईश्वर कहो या और कुछ ?

ईश्वर के संबंध में पंत की कल्पना बड़ी मौलिक है। उनका विचार है कि ईश्वर का जन्म मनुष्य के अवचेतन मन से हुआ है और प्रत्येक युग में मनुष्य का सामूहिक अवचेतन अपने लिए युगानुरूप नये ईश्वर

को जन्म देता है। इस प्रकार मनुष्य के अवचेतन मन में ईश्वर सदैव जन्म लेता और मरता रहता है। अनेक देशों में अनेक रूपों और अनेक नामों से वह अवतरित होता रहा है और आज भी हो रहा है। यह ईश्वर द्वन्द्वात्मक है, पाप-पुण्यरहित है, विरोधी-धर्माश्रय है। कवि कहता है—

दूर नहीं वह तन से, मन से या जीवन से,
अथवा रे जनगण से!
द्वेष-कलह-संग्राम बीच वह,
अंधकार से औ' प्रकाश से शक्ति खींच वह
पलता, बढ़ता, विकसित होता अहरह
अपने दिव्य नियम से!
दूर नहीं वह तन से, मन से, जीवन से
अथवा जनगण से!
एक दृष्टि से, एक रूप में, देख रहे हम
इस भूमा को, जग को, औ' जग के जीवन को निश्चय,
इसमें सुख-दुख जरा-मरण हैं, जड़-चेतन,
संघर्ष-शान्ति, — यह रे द्वन्द्वों का आशय!
परम दृष्टि से, परम रूप में यह है ईश्वर,
अजर अमर औ' एक अनेक, सर्वगत, अक्षर,
क्योंकि विश्व जड़, स्थूल सूक्ष्मतर!
स प्रत्यगात् शुक्रमकायम् व्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्,
कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू—पूर्ण परात्पर

शुद्धाद्वैतदर्शन में जिस तरह पापपुण्योपरि, सर्वव्याप्त, विरोधी-धर्माश्रयी ईश्वर की कल्पना है, कुछ उसी तरह की—परन्तु विज्ञान की नई भूमि पर आश्रित कल्पना पंत की है। मनुष्य के दृष्टिकोण की तरह ईश्वर भी सतत् विकासशील है। प्रत्येक युग ने ईश्वर को विशेष २ नाम और

रूप दे रखे हैं, परन्तु आजतक वह किसी भी परिभाषा में बँध नहीं सका। जैसे २ मनुष्य का अवचेतन भयादि द्वन्द्वों से मुक्त होकर शुद्ध, चेतन, प्रकाशमय होता जायगा वैसे २ हमारा ईश्वर भी अधिक शुद्ध, अधिक चेतन, अधिक प्रकाशवान बनता रहेगा।

ईश्वर को जन्म देने वाले हमारे इस अवचेनन को कवि ने 'अंतर्लोक' कहा है और उसकी शोभा और समृद्धि के गीत गाये हैं। इसी अतर्लोक को स्वर्गीय विभा से आलोकित करना है। इस अंतर्लोक में अशोक सूक्ष्म चिदालोक भरा हुआ है। यहाँ

**रूपरेख जय की लय**
**बनती बर देवालय,**
**श्रद्धा में विकसित मन**
**भक्ति-मधुर सुख-सुख द्वय!**
**बनता संशय**
**चिर विश्वास...**

इस अंतर्लोक के अंधकार को चेतना के प्रकाश में बदलना ही सर्वोच्च मानवी साधना है। हमारे भीतर जो खर्व नर ( वानर ) निवास करता है उसे अतिमानव बनना है। परन्तु स्वय अवचेतना निष्क्रिय है। जगत के नामरूपों की और उनके द्वारा प्राप्त अनुभवों की अवचेतना पर जैसी प्रतिक्रिया होगी वैसा ही वह बनेगा। इसी से साधक को जगत के नये रूप में ग्रहण करना होता है। कवि का कहना है—

**रस बन, रस बन प्राणों में!**
**प्राणों में!**
**निष्ठुर जग, निर्मम जीवन,**
**रस बन, रस बन,**
**प्राणों में!**

तम से मुक्त प्रकाश उदित हो,
घृणा-मुक्त उर दया-द्रवित हो,
जड़ता में चेतना अमृत हो,
गरज न घन,
रस बन, रस बन,
प्राणों में !

अनेक छंदों में, अनेक गीतों में कवि ने लोकोत्तर मन के विकास की की इस साधना को प्रकाशित किया है :

श्री इलाचद जोशी ने पंत को इस नई विचारधारा का संक्षेप में इस तरह बाँधा है !—

[१] मानवीय जीवन का निर्धारण वाह्य मन के द्वारा नहीं, बल्कि अंतश्चेतना के आधार पर करने का युग आ गया है। हमें सचेत रूप से मानवीय अवचेतना के अगाध सागर का मंथन करना होगा और इस मंथन के फलस्वरूप जो सूक्ष्म भाव-सत्य ऊपर उठेंगे उनका विश्लेषण अनुभवी रासायनिक की तरह करके उनके द्वारा व्यक्ति तथा समाज का सुसंयोजित कल्याण-पथ निर्देशित करना होगा।

[२] अतश्चेतन को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है—अवचेतना ('अनकांशस') और ऊर्ध्वचेतना ('सुपरकांशस')। ये दोनो चेतनाएँ एक-दूसरे से अविच्छिन्न रूप में बँधी हैं। बिना अवचेतना की सागरोपम गहराई की नींव के ऊर्ध्व या अतिचेतना की हिमालयोपम ऊँचाई ठहर नहीं सकती, और बिना अतिचेतना की चरम उच्चता पर स्थित स्थिर और चिर प्रशांत लक्ष्य के विश्वजनीन अवचेतना का असीम उद्वेलन कोई सार्थकता नहीं रखता। ... (इन दोनो चेतनाओ में सामजस्यमूलक सूत्र या समन्वयात्मक सेतु बाँधना होगा)

[३] मानवीय अवचेतना ही दिव्य ज्योतिमयी स्वर्गीय उषा है और वही घनघोर अंधकारमयी नारकीय रात्रि। ये दोनो एक ही तत्त्व के दो

रूप हैं। यदि सामूहिक मानवजीवन वास्तविक स्वर्गिकता की स्थापना करना चाहता है तो अवचेतन लोक के उसी घोर नारकीय अंधकार की यथार्थ मिट्टी के आधार पर ही उसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

[४] ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा व्यक्तिगत जीवन में ईश्वर (सर्जनात्मिका प्रकृति का मूल प्रेरक-तत्त्व) फिर-फिर मरता जीता है और फिर-फिर नये रूपों में आविर्भूत होता रहता है। सामूहिक अवचेतना के अनंत और अगाध तमोसागर के भीतर निहित अमित रहस्यमयी कामना-तरंगें युग-युग में, पल-पल में अपनी बद्धस्थिति से मुक्त होकर नव-रूपों में बाहर को फूट पड़ने के लिये आकुल रहती है, और वे ही नव-नव स्फुरित स्रोत एक ओर युग-युग के आराध्य देव का रूप बदलते रहते हैं और दूसरी ओर प्रतिपल के जीवन का नव-नव निर्माण करते चले आते हैं। चिर विकासशील (बाह्य तथा अंतर) प्रकृति युग-युग के अंधकार से तथा प्रकाश से समान रूप से शक्ति खींचती हुई द्वेष, कलह, संग्राम, और अंतर्विरोध के बीच में, प्रकट ह्रास की अवस्था में भी नया बल प्राप्त करती हुई, प्रतिपल नये-नये उन्नत तत्त्वों में रसांतरित होती हुई आगे को बढ़ती चली जाती है।

[५] आधुनिक गणित इस सिद्धांत पर पहुँचा है कि विश्व के समस्त भौतिक तत्व आत्मनिपीड़न अथवा आत्ममंथन द्वारा धीरे-धीरे शक्तितत्व में परिणत होते जा रहे हैं और गणित द्वारा ही इस महासत्य का आभास मिल रहा है कि वह समस्त शक्तितत्व भी आत्मनिपीड़न द्वारा धीरे-धीरे सूक्ष्म मनस्तत्व में परिणित हो जायगा। इस प्रकार समस्त विश्व में अंततोगत्वा एक सूक्ष्म और व्यापक चेतनातत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जायगा। पंत जी की विभिन्न कविताओं में दूसरे रूपों मे इसी सत्य की ओर निर्देश पाया जाता है।

इसी गतिमान द्वन्द्वात्मक चेतनावाद को कवि ने अनेक रूपकों में अभिव्यंजित करना चाहा है। 'स्वर्णकिरण' के अंतर्गत ऊषा और स्वर्णोदय के

रूपक इसीलिये हैं। 'अशोक' बन मे भी इसी प्रकार बद्ध सीता (चिन्मयता) के स्वतंत्र होने की कहानी है। 'ऊषा' में अंर्तभावों की उत्पत्ति और उनके विकास का रूपक है। मानव के मनःस्वर्ग में जिस दिन नई चेतना का प्रकाश होगा उस दिन वह अपनी जड़ता के बधन को खोल डालेगा। उस दिन आशा, सेवा, कृतज्ञता, विनय, करुणा, क्षमा, न्याय, श्रद्धा, भक्ति, मुक्ति, सत्य और श्रेय का जन्म होगा। इन मनोभावों के बड़े सुन्दर रूप कवि ने उपस्थित किये हैं। सत्य का शिवरूप देखिये—

**× × सत्य आरूढ़ निरन्तर,**
**धरे अंक में भू को, सुर जलस्रोत शीर्ष पर ;**
**ताप गले में, सुधा शांति मस्तक पर भास्वर,**
**लिपटा तन से भाव-अभाव, भूति औ' विषधर !**
**सदुसद् देशकाल से पर, त्रिक् तपस शूल धर,**
**देवों का पोषक था वह, दैत्यों का जित्वर;**
**काम क्रोध मद मत्सर थे उसके पद अनुचर,**
**वह स्वर्णिम किरणों से मंडित, पाप तमस हर !**

"अशोकवन' में सीता को भू-चेतना और राम को स्वर्ग-चेतना माना गया है। भू की चेतना जब एक बार ऊर्ध्वमुख हो जाती है, तब वह फिर धरती की वस्तु नहीं रहती। मूलतः वह मृन्मय है, परन्तु जब राम के स्पर्श से वह एक बार चिन्मय हो गई तो वह सदा के लिए चिन्मय हो गई। कवि ने सारी रामकथा को एक नया विकासवादी रूप दे दिया है। रुद्रधनु-खंडन मानव-जीवन के एक युगांत का सूचक है। इस युग में आखेटक मनुष्य कृषि-युग में पदार्पण करता है। मनोभूमि में इस रूपक को उतारें तो जनमन धरती है, जग-जीवन कृषि है और कृषि - संस्कृति सीता है। गत आदर्श प्रगति के विरोधी बन जाते हैं। यही रावण हैं। राम-सीता का मिलन भू-स्वर्ग का परिणय है। कवि कहता है —

क्या अशोक बन है, क्या सीता ?
वह सुख वैभव स्वर्ग, और यह
जन-मंगल की मूर्ति पुनीता !
एक युगांत, रुद्र-धनु खंडन,
कृषि-युग-सर्जन राम-अवतरण,
जन-मन धरती, जगजीवन कृषि,
संस्कृति कृषि श्री, क्षितिजा प्रीता।
गत जीवन ममत्व ही घर तन
जन-मन में था माया रावण,
मिटा धरा से उस विरोध को
सीता हुई अशोक गृहीता !
रावण था युग-वैभव प्रतिमा,
अमित प्रताप, बुद्धि-बल गरिमा,
युग-आकांक्षा से अविद्ध वह,
जन-मन शत्रु, मही थी भीता !
जन आकांक्षा को था उठना,
प्रभु को उतर मनुज था बनना,
भू-ईप्सा को स्वर्ग-दया से
होना था जगहित परिणीता !
जब आते महान परिवर्तन
प्रभु तब भू पर करते विचरण,
यह इतिहास मनोजीवन का,
सृजन-विकास, चेतना-गीता !

रावण अवचेतना के अन्धकार में छिपी माया की अचित् शक्तियों का सामूहिक नाम है। यही राक्षस (तमस्) शक्तियाँ मनोभूमि में नाना प्रकार के प्रपंचों का सृजन करती हैं। अवचेतना के भूगर्भित अन्धकार में जीव

अनादि काल से भ्रमण कर रहे हैं। अवचेतन और उपचेतन मन के संघर्षों का परिणाम ही भौतिक सम्पदा है। इसे ही सोने की लंका कहा गया है। रूप, रस, गंध, शब्द, कल्पना ये सब इस अवचेतन मन की वितृष्णा के के ही नाम हैं। मन की वितृष्णा का निरोध होने पर ही इनके बंधन से छूटना संभव हो सकेगा। अवचेतना के इस गह्वर से निकल कर स्वस्थ मानव-संस्कारों को उपचेतन मन के प्रकाश में आना होना। लंकादहन का अर्थ है अवचेतना के अस्वस्थ स्तरों का अग्नि-समर्पण। इस प्रकार सद् का जन्म असद् से होता है। यही परंपरागत रामकथा है। उपचेतन के गले स्वर्ण से ही नई संस्कृति की प्रतिमा का निर्माण हुआ। दानव मानव बने। सीताराम की मूर्तियाँ उनके लिए पूज्य बनीं।

'स्वर्णोदय' में कवि ने जीवन के भू पर अवतरण और उसके विकास-ह्रास के क्रमांतर को साधारण बालक की जीवन-यात्रा के रूपक के द्वारा अंकित किया है। पंत की इधर की सारी रचनाओं में यह सब से बड़ी रचना है। अवचेतन - उपचेतन की गुत्थियाँ भी इस रचना में नहीं हैं। जीवन के क्रमिक विकास और मंगलाशा को ही कवि ने काव्य का विषय बनाया है। बालक के जन्म के रूप में अमृत्य फिर इस पृथ्वी पर मृत्य देह लेकर अवतीर्ण होता है। जीवन की प्रशस्ति में कवि कहता है—

**जयति, प्रथम, जीवन स्वर्णोदय,**
**रक्त स्फीत, लो, दिशा का हृदय**
**काल तमस व्यवधान चीर कर**
**किसने मारा यह स्वर्णिम शर?**
**जय, अमर्त्य जीवन-यात्री, जय!**
**देखो, कोमलार्त कर क्रन्दन**
**किसने जग में किया आगमन!**
**(यह क्या भू का रुदन सनातन!**
**पलकों में जग उठे निमिष क्षण,**

स्तब्ध हृदय में दिशि का स्पंदन!
गुहा-बद्ध चिर स्रोत हो स्खलित
जीवन पथ में हुआ प्रवाहित !
मुक्त अरूप रूप धर सीमित,
श्वासों में कर गगन तरंगित !
मंगल गायन !
मंगल वादन !
क्यों न मनाएँ जन्मोत्सव जन !
धन्य आज का पुण्यदिवस क्षण,
फिर अमर्त्य ने धरा मर्त्य तन !

धीरे-धीरे शिशु में चेतना का जन्म होता है। प्रकृति के सारे उपादान, जीवन के सारे उपकरण शिशु की चेतना के विकास में सहायक होते हैं। शिशु की नई चेतना को यह सारा विश्व गोपन, रहस्यमय और सुन्दर जान पड़ता है। शिशु स्वय अनंत का यात्री है। जरा नहीं, मरण नहीं, यहाँ केवल एक मात्र परिवर्तन का राज है। यदि मरण ही सब कुछ होता तो पृथ्वी पतझर के पीले पत्तों से भर जाती। शिशु की इस अनंत यात्रा का बड़ा सुन्दर दार्शनिक विवेचन पंत की कविता में हुआ है :

यह अनंत यात्रा का है पथ,
शिशु अनंत का यात्री शाश्वत;
वह अनादि से नित्य नवागत !
अपने ही घर का अभ्यागत !
सूर्य चंद्र उसके ही लोचन,
श्वसन उसी के उर का स्पंदन;
उसका आत्म-प्रसार दिशा-क्षण,
आदि सृष्टि का, कारण,

शिशु अनंत का पांथ चिरंतन !
क्रम-विकास के पथ से निश्चित
विश्वनीड़ कर अपना निर्मित,
जननि-जनक में स्वयं विभाजित
वह अवतरित हुआ या विकसित ?
कोटि योनि औ' कोटि जन्म तर
विविध भ्रूण:स्थितियों में बढ़ कर,
दिव्य अतिथि वह मनुज देह धर
आया फिर से मधुर मनोहर !
देखो, देखो आँखें भर
कैसा रहस्यमय ईश्वर !
देखो हे आँखें भर
कैसा सुन्दर ईश्वर !

शिशु धीरे-धीरे बालक में विकसित होता है। अब वह पृथ्वी से ऊपर उठकर चलना शुरू कर दिया देता है। पशुपक्षियों की क्रीड़ाएं उसके पाठस्थल बन जाते हैं। हँसना - गाना, लड़ना - झगड़ना—यही उसका जीवन बन जाता है। संभव और असंभव की रूपरेखाएँ उसकी चेतना में मिलकर एकाकार हो जाती हैं। स्पर्श-स्वाद मात्र का अनुभव करने वाला स्वप्न-लोक-वासी शिशु में धीरे धीरे बुद्धि, भावना, स्मृति और जिज्ञासा का जन्म होता है। फलतः वह जानना चाहता है। यहीं से जीवकी ज्ञान-पिपासा शुरू होती है परन्तु यह विकास क्यों हुआ, इसका श्रेय किसे है—

बोध निहित था क्या उर भीतर,
अथवा व्याप्त विश्व में बाहर ?
छिपा बिन्दु में था क्या सागर ?
बाह्य परिस्थितियों पर शिशु-विकास या निर्भर ?

**बढ़ते वे या बहिरंतर की प्रतिक्रियाओं से लोकोतर !**
**कहीं नहीं क्या सम्यक् उत्तर !**

बालक किशोर हो जाता है। परियां अदृश्य हो जाती हैं। हृदय में नया स्पर्श, नया पुलक, आंखों में नये स्वप्न, होठों पर नई हंसी। युवक-युवती, पास आ जाते हैं और प्रेम का अपना पाठ सीखने लगते हैं। प्रकृति एक बार फिर इस कार्य में सहायता देती है। प्रेमीजन पति-पत्नी बनते हैं। दोनों स्वप्नों से भरे होते हैं। न जाने पिछली पीढ़ियां अब तक क्या कर रही थीं! वे दो जन इस पृथ्वी पर क्रांति करेंगे। अरे, यह पृथ्वी कितनी अपूर्ण है।—रोक, शोक, मिथ्या-विश्वास, अविद्या, दुःख-दैन्य, युद्ध, महामारी। मनुष्यता के इस कलंक को दूर करना होगा। वे पृथ्वी की मुक्ति के गीत गाते हैं—

**आओ, मुक्त कंठ से सब जन**
**भू-मंगल का गावें गायन,**
**बन्दे मातरम्!**
**जन धरणी जन भरणी**
**रत्न प्रसवनी मातरम्!**
**नृत्य हरित पिककूजित यौवन,**
**अनिल तरंगित उदधि-जल वसन,**
**ज्वलित सूर्य-शशि छत्र नतगगन,**
**प्रणयाकांक्षी स्वर्ग चिरंतन,**
**बंदे मातरम्!**

नारी अब अवगुंठिता नारी नहीं रही। उसने विकास-क्रम में अपने स्थान को समझ लिया है। वह पुरुष के साथ कंधा से कंधा भिड़ा कर चल रही है। वह प्रेयसी बनती है। फिर माता बनती है। अब शिशु युग्म के ममत्व का केन्द्र बन जाता है। अब तक उन्होंने जीवन-स्थितियों में विरोध को शाश्वत समझ रखा था। अब वे समाधान खोजने लगते हैं। वास्तव में

क्रांति और विकास का पथ सदा ऋजु नहीं होता। विजय-पराभव, हानि-लाभ के बीच में ही जीवन नये पथ पर विकसित होता है। कवि कहता है :

नहीं गणित से रे परिचालित
मानव जीवन का विकास-क्रम
विजय-पराभव संधि - क्रांति का
स्रवणशील मानव-मन संगम!
मरती रहती बाह्य चेतना
आत्मा फिर-फिर जगती नूतन,
छोड़-जीर्ण केंचुल नव सर्पित
होता उरग मनुज का जीवन!

पिता की यह इच्छा होती है कि उसका पुत्र वह सब कर सके जो उसने नहीं किया। उसका मार्ग उन संघर्षों और द्वन्द्वों से रहित हो जिन्होंने उसे विचलित कर दिया था। धीरे-धीरे समय बीतता है। पिता विचार और कर्म के ताप में तप कर पितामह बनता है। उसकी चेतना का भी विकास होता है। वह जड़-चेतन से परे मूल सनातन जीवन की स्थिति को सत्य समझने लगता है। अन्न, प्राण, मन, आत्मा उसी एक चिर व्याप्त, मुक्त, सच्चिदानंद, चिरंतन ईश के ज्ञान-भेद बन जाते हैं। वेदांत का यह सत्य उसे स्वसंवेद्य हो जाता है—

वही तिरोहित जड़ में जो चेतन में विकसित,
वही फूल मधु सुरभि वही मधुलिह चिर गुंजित!
वस्तु भेद ये चिर अमूर्त ही भव में मूर्तित,
वह अज्ञेय, स्वतः-संचालित, एक, अखंडित!
अधः-ऊर्ध्व बहिरंतर उसके सृष्टि-संचरण,
सांत-अनंत, अनित्य नित्य का वह चिर दर्पण;
एक एकता से न बद्ध, बहुमुख-शिख शोभन,
सर्व सर्व से परे, अनिर्वचनीय, वह परम्!

इस अनुभूति के प्राप्त होने उसका हृदय शाश्वत अमृत से भर जाता है। अब वह अंतर्जीवन के इसी सत्य को मानव-जीवन का केन्द्र मानता है। इस अमर संदेश के साथ कवि इस रूपक की समाप्ति करता है :

**वृथा पूर्व-पश्चिम का दिग्-भ्रम मानवता को करे न खंडित,**
**बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित !**
**पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्वतंत्र में वितरित,**
**प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू-तमस् तिरोहित !**

इस प्रकार इस रूपक में कवि एक बार फिर मार्क्सवाद के आधार पर विश्व-तंत्र की बात उठाता है, परन्तु उसे पूर्व के अध्यात्मवाद और स्वयं अपने युग के मनोविज्ञान से भी पुष्ट कर देता है। मानवता का विकास मूलतः अवचेतन प्रच्छन्न मनस् का विकास है। इस सत्य को ग्रहण करना होगा।

## ६

# नई रचनायें: 'युगपथ' और 'उत्तरा'

'युगपथ' और 'उत्तरा' नाम से पंत के दो काव्य-संग्रह अभी पिछले दिनों में प्रकाशित हुए हैं। कवि की विचारधारा के विकास एवं सांस्कृतिक दृष्टि से ये दोनों रचनायें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें उसका काव्य एक नया मोड़ लेता दिखलाई देता है।

'युगपथ' (१९४९) के दो भाग हैं। पहला 'युगांत', दूसरा 'युगांतर'। 'युगांत' में इसी नाम से प्रकाशित कविताएँ संग्रहित हैं। इनके संबंध में हमने पहले विचार किया है। 'युगांत' की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'बापू के प्रति' (१९३६) है जिसमें कवि ने मानवता के प्रतीक के रूप में पहली बार बापू का अभिनन्दन किया है। 'युगांतर' में एक युग के बाद बापू के निधन पर जो कवि ने लिखा है उसे उसने एक स्थान पर रख दिया है। परन्तु कुछ और रचनायें भी हैं।

'युगांतर' की पहली १६ कविताएँ बापू से संबंधित हैं। अधिकांश कविताएँ चतुष्पदी के रूप में हैं। 'युगांत' में कवि ने बापू को 'गुंजन' के मंगलाशी और मानववादी दृष्टि से रखा है। 'युगवाणी' में वह गांधी और मार्क्स के संबंध में कुछ द्विधा में पड़ा दिखलाई पड़ता है। बाद की कविताओं में उसने जहाँ गाँधीवाद की व्याख्या की है वहाँ साम्यवाद के प्रकाश में उसे लेकर कई प्रश्न भी उठाये हैं। हिंसा और अहिंसा के क्षेत्र में कवि किसी नई प्रकार का समझौता नहीं कर सका है। परंतु गांधीजी के निधन ने उसकी सारी द्विधा समाप्त कर दी। उसने एक अप्रत्याशित घटना को मानव के सारे इतिहास और विराट भू की पृष्ठभूमि में रखकर देखा है। पहली चतुष्पदी में वह कहता है—

अंतर्धान हुआ फिर देव विचर धरती पर,
स्वर्ग रुधिर से मर्त्यलोक की रज को रँग कर।
टूट गया तारा, अंतिम आभा का दे वर,
जीर्ण जाति-मन के खँडहर का अंधकार हर !
अंतर्मुख हो गई चेतना दिव्य अनामय
मानस लहरों पर शतदल-सी हँस ज्योतिर्मय !
मनुजों में मिल गया आज मनुजों का मानव
चिर पुराण को बना आत्मबल से चिर अभिनव !

इस महामानव की विदा से कवि का भर अगार दुःख से भर जाता है। वह कहता है —

हाय, हिमालय ही पल में हो गया तिरोहित
ज्योतिर्मय जल से जन-धरणी को कर प्लावित !
हाँ, हिमाद्रि ही तो उठ गया धरा से निश्चत
रजत वाष्प सा अतर्नभ में हो अंतर्हित !

उसे सारी प्रकृति इसी दुःख में विभोर दिखलाई देती है :—

आज प्रार्थना से करते तृण-तरु भर ममर
सिमटा रहा चपल कूलों को निस्तल सागर !
नम्र नीलिमा में नीरव नभ करता चिंतन
श्वास रोक कर ध्यान-मग्न सा हुआ समीरण !

परन्तु धीरे-धीरे उसके मन का प्रबोधन होता है। उसका मन प्रश्नों से भर जाता है —

क्या क्षण भंगुर तन के हो जाने से ओझल
सूनेपन में समा गया यह सारा भूतल !
नाम-रूप की सीमाओं से मोह-मुक्त मन
या अरूप की ओर बढ़ाता स्वप्न के चरण !

क्षणभंगुर शरीर के नष्ट होने से मोह कैसा ? गाँधी तो नाम-रूप को छोड़ कर अरूप की ओर बढ़े हैं ? उन्हे अब किस मृत्यु का भय होगा। जो महामानव पहले ही देशकाल की सीमाओं उल्लंघन कर चुका है, उसे मृत्यु का भय क्यों होगा, मृत्यु उसका क्या बिगाड़ सकेगी !

कवि भारतभूमि को आश्वस्त करता है। वह आँसुओ से भरे अंचल से अपने मुख को ढ़क कर विषाद की शिला क्यों बन गई है ? वह तो अमरों की जननी है। इस मृत्युलोक में आ कर भी स्वर्ग से परिणीता रही है। वह तो निरंतर तपःपूत है। उसके अंचल पर तो काल ने सदैव के ज्योतिर्मय अक्षर लिखे हैं। गांधी के बलिदान से तो उसका महिमा और बढ़ गई। कवि गाता है—

**खोलो, मा, फिर बादल-सी निज कवरी श्यामल,**
**जनमन के शिखरों पर चमकें विद्युत के पल !**
**हृदय-हार सुरधनी तुम्हारी जीवन-चंचल,**
**स्वर्ण-शोणि पर शीष धरे सोया, विंध्याचल !**
**गजरदनों से शुभ्र तुम्हारे जघनों में घन**
**प्राणों का उन्मादन जीवन करता नर्तन !**
**तुम अनंत – यौवना धरा हो, स्वर्णांकांक्षित,**
**जन को जीवन - शोभा दो; भू हो मनुजोचित !**

गांधी नहीं रहे। परंतु वे तो भारत की सांस्कृतिक सुषमा और नए युग की मिट्टी के प्रतीक थे। वे मर कर भारत के जन-जन की आत्मा में समा गये। नवभारत में जो जनता के नवीन जीवन का सागर लहरा रहा है, वह उनकी विजय ही घोषित कर रहा है। आज मध्ययुग का घृणित दाय पराजित हो रहा है। जाति-द्वेष, अंधविश्वास, दासता, अतिवैयक्तिकता का नाश हो रहा है। आज हमारी जनता सामाजिकता के प्रति जाग्रत हो रही है। गांधी जी की मृत्यु ने देश को लौह-संकल्प से दृढ़ कर दिया है।

नई चेतना और नये सपनों को लेकर भारत के नरनारी प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। आज भारत की नारी उषा की तरह अंकुठित है। इस भव्य जागरण के सपने से कवि का अंतर ऊर्जस्वित हो उठता है। भावी भारत का एक महत् चित्र उसके मानस-नेत्रों के सम्मुख उद्भाषित होने लगता है। वह कह उठता है—

देख रहा हूँ, शुभ्र चाँदनी का सा निर्झर
गाँधीयुग अवतरित हो रहा इस धरती पर
विगत युगों के तोरण, गुंबद, मीनारों पर
नवप्रकाश की शोभा रेखा का जादू भर !
संजीवन पा जाग उठा फिर राष्ट्र का मरण,
छायाएँ-सी आज चल रही भू पर चेतन;
जनमन में जग दीपशिखा के पग धर नूतन
भावी के नवस्वप्न धरा पर करते विचरण !
सत्य अहिंसा बन अंतर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते हैं भू के व्रण !
झुका तड़ित-अणु के अश्वों को कर आरोहण
नव मानवता करती गाँधी का जय-घोषण !
मानव के अन्तरतम शुभ्र तुषार के शिखर
नव्य चेतना मन्डित, स्वर्णिम उठे हैं निखर !

न जाने कवि का यह सपना कब सच होगा ? परन्तु इसमें संदेह नहीं कि गाँधी के जीवन और उनकी मृत्यु ने इस सपने को दूर क्षितिज से बहुत पास ला दिया है। उनके उच्चादर्शों से आज भी जन-मन दीपित है। उनका जीवन-स्वप्न एक नवीन राष्ट्र का जागरण बन गया है। सभ्यता कह कर जिसका जयगान किया जाता है, वह कृत्रिमता से पीड़ित है— यह उन्हीं ने बताया। यांत्रिकता के विषम भार से जर्जर इस भू पर आत्मा के सौन्दर्य और जीवन

सारल्य की स्थापना की बात कहना क्या कम साहस की बात थी ? उन्होंने आत्मदान द्वारा जिस सत्य की स्थापना की है, वह क्या कभी झूठा हो सकता है ! इसीलिये कवि की प्रार्थना है —

**देव, अवतरण करो धरा-मन में क्षण अनुक्षण**
**नवभारत के नव जीवन बन, नव मानवपन !**

एक महान युगसत्य को उद्घोषित करता हुआ कवि अपनी मंगलाशा प्रगट करता है—

**घृणा -द्वेष मानव उर के संस्कार नहीं हैं मौलिक;**
**वे स्थितियों की सीमायें हैं; जन होंगे भौगोलिक;**
**आत्मा का संचरण प्रेम होगा जन जन के अभिमुख,**
**हृदय ज्योति से मंडित होगा हिंसा-स्पर्धा का मुख !**

इस मंगलाशा के स्वर्गकेतु को लेकर बढ़ने वाले गांधी चिर बंद्य रहेंगे। कवि बंदना के स्वरों मे गाता है —

**जय हे !**
**जय-राष्ट्र पिता, जय जय हे !**
**देव-विनय, अविजेय आत्मबल,**
**शुभ्र वसन, तन-कांति तपोज्वल,**
**हृदय क्षमा का सागर निस्तल,**
**शांत तेज नव सूर्योदय !**
**जय जय हे !**

गाँधीजी की चिताभस्म को अंतिम बार प्रणाम करता हुआ वह जीवन की नई दीप्ति से भर जाता है—

**बार-बार अंतिम प्रणाम करता तुमको मन**
**हे भारत की आत्मा, तुम कब थे भंगुर तन ?**

व्याप्त हो गए जनमन में तुम आज महात्मन्
नवप्रकाश बन, आलोकित कर नव जगजीवन !
पार कर चुके थे निश्चय तुम जन्म औ निधन,
इसीलिये बन सके आज तुम दिव्य जागरण !
श्रद्धानत अंतिम प्रणाम करता तुमको मन
हे भारत की आत्मा, नवजीवन के जीवन !

कवि रवीन्द्र, मर्यादा पुरुषोत्तम राम और अरविंद के प्रति भी कवि ने इस संग्रह मे अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की हैं। कवि रवीन्द्र को वह गुरुदेव कहकर स्मरण करता है। उनकी अलौकिक साहित्यिक प्रतिभा से वह चमत्कृत है :

सूर्य किरण सतरंगों की थी करती वर्षण
सौ रंगों का सम्मोहन कर गए तुम सृजन,—
रत्नच्छाया-सा रहस्य-शोभा स गुंफित,
स्वर्गोन्मुख सौन्दर्य प्रेम आनंद से श्वसित
स्वप्नों का चंद्रातप तुम बन गए, कलाधर,
विहँस कल्पना-नभ से, भाव-जलद-पट रँग कर
रहस-प्रेरणा की तारक - ज्वाला से स्पंदित
विश्व-चेतना-सागर को कर रंग-ज्वार स्मित !

( गुरुदेव के प्रति )

कवि यह जानता है कि कवि गुरु का सपना अभी सच्चा नहीं हो पाया है। धरती का जीवन अभी किसी भी तरह बदल नहीं सका है। एक तीसरे युद्ध की छाया ने हमें आक्रांत कर रखा है। अनेक वर्गों, श्रेणियो और राष्ट्रीय स्वार्थों की दीवारें राष्ट्रों-राष्ट्रों को विभक्त किये हैं। अभी मानवता अंध-रूढ़ियों में बंदी है—

भूल गया मानव निज अंतर्जग का वैभव,
जीवन का सौन्दर्य, प्रेम, आनंद,—सूक्ष्म से
उतर नहीं पाते जन भूपर। सृजन चेतना
निष्क्रिय होकर पंगु पड़ी है। धरा स्वर्ग को
स्वप्नप्रभ पंखों से आज नहीं छू पाती!
अंतर्मन के भूमि-कंप से ध्वंस भ्रंश हो
अंतर्विश्वासों के उन्नत आदर्शों के
शिखर सनातन बिखर रहे हैं मर्त्य धूलि पर!

स्वयं अपने देश में अभी रूढ़ियों का राज्य है:

मुक्त नहीं हो सका अभी जन-भारत का मन,—
मध्ययुगों की क्षुद्र विकृतियाँ शीर्ष उठाकर
नव्य राष्ट्र को बना रहीं निःशक्त, क्षीण हैं
विविध मतों में त्रिविध दलों, व्यूहों में बँटकर
देश आज निर्वीर्य, निबल, निस्तेज हो रहा,
घृणित सांप्रदायिक बर्बरता से पीड़ित हो!—
शोणित की नदियाँ बहतीं इस तपोभूमि में!!
नहीं झलकता मानव-गौरव जन के मुख पर
रुद्ध हृदय है उनका, मन स्वार्थों में सीमित
आत्मत्याग से हीन, अभी वे नहीं दे सके
महाराष्ट्र के उपादान,—गंभीर, धीर, दृढ़
युग-प्रबुद्ध, निर्भीक, वज्र-संयुक्त परस्पर!

(कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति)

परंतु फिर भी कवि मानव के भविष्य के संबंध में पूर्णतया आश्वस्त है। भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति से संसार दिव्यता की ओर एक क़दम आगे ही बढ़ा है। अंधकार, मिथ्या और हिंसा के ऊपर अहिंसा और आत्म-सत्य की जय हुई—

**निश्चय, मानव का भविष्य अब चिर उज्ज्वल है,**
**असंदिग्ध भू का मंगल,—निर्भय हो जनमन !**

आज जब विश्व मे प्रत्येक स्थान पर मानवता कुण्ठित हो रही है, तब भारत के सिवा नवजीवन का आश्वासन कौन दे सकता है ! आज की परिस्थिति सचमुच विषम है—

**आज धरा के भूतों के इस तमस् क्षेत्र में**
**जीवन तृष्णा, प्राणक्षुधा औ' मनोदाह से**
**क्षुब्ध, दग्ध, जर्जर जनगण चीत्कार कर रहे**
**घृणा-द्वेष स्पर्धा से पीड़ित, बन-पशुओं-से ।**
**बिखर गया मानव का मन अणुवीक्षण पथ से**
**वहिर्जगत में, स्थूल भूत विज्ञान से भ्रमित !**
**अंतर्दृष्टि-विहीन मनुष्य निज अंतर्जग के**
**वैभव से अनभिज्ञ, हृदय से शून्य, रिक्त है।**
**आज आत्मघाती वह, अपने ही हाथों से**
**महाजाति का महामरण निर्माण कर रहा**
**भौतिक रासायनिक चमत्कारों से अगठित !**
**तर्क-नियंत्रित यांत्रिकता के पद-प्रहार से**
**ध्वस्त हो रहे अंतर्मन के सूक्ष्म संगठन**
**सत्यों के, आदर्शों के, भावों, स्वप्नों के,—**
**मनुष्यत्व निर्भर है जिन ज्योति-स्तंभों पर !**

ऐसी परिस्थिति में कवि भारत की ओर ही आशा से देखता है—

**ऐसे मरणोन्मुख जग को कहता मेरा मन**
**और कौन दे सकता नवजीवन आश्वासन**
**शांति, तृप्ति,—निज अंतर्जीवन के प्रवाह से ?**
**भारत के अतिरिक्त आज ?**

और जिस भारत की ओर वह आशा की दृष्टि से देख रहा है उसका देवत्व अद्भुत है। भारत की यह हिरण्य-प्रतिमा अपूर्व है। कवि गाता है—

आज सूक्ष्म दर्शन में जगता मनोनयन में
भारत का आनन हिरण्यस्मित, जीवन-मन के
तम से पर आदित्यवर्ण उसकी आत्मा का,
भूत शिखर के चरम चूड़-सा शत सूर्योज्ज्वल!
ह्रास-नाश से रहित अमर चेतन शक्तियाँ
वह अंतर्हित किए हृदय में, सूक्ष्म, सूक्ष्मतम,
गुह्य, रहस्य, वर्णनातीत--जग के मंगलहित!
उसके अंतरतम के ज्योतिमय शतदल पर
स्वयं खड़े हैं सत्य चरण धर अविनाशी प्रभु
तेजोमय जाज्वल्य हिरण्य शैल से अद्भुत!
पुरुष पुरातन, पुरुष सनातन, विश्वमोहिनी
निज वंशी के सृजन नाद में जगा अचित् से
स्वर्गिक पावक के असंख्य चैतन्य लोकस्मित,
बरसा रहे अनंत शून्य में स्वर-लय नर्तित
कोटि सूक्ष्म सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द के भुवन!
प्राणों की आशाकांक्षाओं से चिर उर्वर
जीवन, मन के स्वर्ग, तृप्ति के सुख मे नीरव,
रूप-गंध-रस-स्पर्श-शब्द के विम्बजगत बहु
निज असीम वैभव में अक्षय--दमक रहे जो
सप्त चेतनाओं के रंग स्तरों में छहरे!
संयम-तप के स्वर्णशुभ्र नीहार से जड़ित
भारत के चेतना-शृङ्ग पर, ध्यान मौन रव,
परम पुरुष वह नृत्य कर रहे, सृजन हर्ष की
विस्मृति में लय! — जिनके अतिचेतन प्रकाश से

शोभा-सुषमा की सहस्र दीपित मरीचियाँ,
आभा की आभाएँ, छाया की छायाएँ
दिशा-काल में फूट रहीं, शतसुरधनुओं के
रङ्गों की आलोक-कांति से दृष्टि चकित कर!
झर-झर पड़ते सतत सत्य शिव सुन्दर उनसे
महाकाल औ' महादिशा को चेतनता से
मुग्ध चमत्कृत कर — रोमांचित दिव्य विभव से!

(कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति)

दिव्य भारत का यह सपना ही कवि को स्वतन्त्र भारत का चारण बना देता है। अनेक गीतों में उसने भारत की वंदना की है और उसका जागरण-गान गाया है। 'ग्राम्या' मे जब पहली बार कवि ने देश की वंदना की थी तब उसका स्वर विषण्ण था। परन्तु तब देश ग़ुलाम था। अब देश स्वतत्र है। देश की स्वतंत्रता तो वदनीय है ही! कवि गाता है —

अह, इस सोने की धरती के
खुले आज सदियों के बंधन,
मुक्त हुई चेतना धरा की,
मुक्त बनें अब भू के जनगन!
अगणित जन-लहरों से मुखरित
उमड़ रहा जग-जीवन-सागर

(जागरण)

सचमुच, एक बहुत बड़ी बात हो गई —

आज तिरंगे से अम्बर
रंग तरंगित,

हर्षध्वनि से मुग्ध समीरण
चंचल पुलकित,
जन - समुद्र उद्वेलित,
हरित दिशाएँ हर्षित,
जन-धरणी का अंचल
स्वर्णिम श्यामल कंपित !
(स्वतन्त्रता-दिवस)

परन्तु भारत की यह स्वतत्रता विराट भू की पृष्ठभूमि में रख कर भी देखी जा सकती है । कवि कहता है —

देख रहा मैं काल-देश—
कट रहे युगों के बंधन,
उर उर में मच रहा महाभारत,
—यह विश्व-विवर्तन !
काँप रहे युग-युग के भूधर
डुबा रहा तट सागर,
गरज रहा जन-मन का नभ
फिर धूमिल वाष्पों से भर !
(स्वधीन-चेतना)

परन्तु कवि देश को स्वतंत्र ही नहीं देखना चाहता । वह जानता है कि भारत का अपना संदेश है । इस संदेश को वह सारे ससार के सामने रखना चाहता है । यह संदेश भीतर का संदेश है । वह भारत का सनातन संदेश है जो देह पर आत्मा की विजय उद्घोषित करता है । कवि पूछता है—

यांत्रिकता के विषम ज्वार में
आज डूबने को जन-धरणी

महाप्रलय के सागर में क्या
भारत बन न सकेगा तरणी ?
मिट्टी से ही सटे रहेंगे
क्या भारत भू के भी जनगण
क्या न चेतना-शस्य करेंगे
वे समस्त पृथ्वी पर रोपण ?

कवि चाहता है कि भारत संसार को अंतर्प्रकाश दिखलाये, संसार भूत-तमस् में खो गया है वह उसे अन्तर्पथ की ओर ले जाये। आज मनुष्य ने विज्ञान के विद्युतालोक से समस्त पृथ्वी को प्रकाशित कर लिया है परन्तु मनुष्य का हृदय अब भी ज्योतित नहीं हो सका है। कवि को आशा है कि भारत का युग-पुराचीन अध्यात्म-भाव नवीन संस्कृति के मृण्मय दीपों में प्रकाश की सुनहली आभा उँड़ेल देगा और इसीलिए उसकी स्वतंत्रता उसके लिए विशेष महत्वपूर्ण है परन्तु नये जागरण के लिए मनुष्य को आकाश का मुँह नहीं ताकना होगा। उसे पृथ्वी की ओर ही देखना होगा। वह कहता है :

इस धरती के रज के तम में
अग्नि बीज रे दबे चिरन्तन,
फूटे ज्योति प्ररोहों में वे
पा जागृति का लोक-समीरण !

कँपती स्वप्न-शिराओं में जग
हो मानव - चेतना पल्लवित,
नवजीवन शोभा से जगमग
धरणी का प्रांगण हो दीपित !

(दीप-लोक)

मर्यादा–पुरुषोत्तम राम और श्री अरविंद के संबंध में कवि के दृष्टिकोण से हम पहले भी परिचित थे। इस संग्रह में हम उस दृष्टिकोण का ही विकास पाते हैं। 'आवाहन' शीर्षक कविता में कवि ने रामकथा पर अपने चेतनावाद का आरोप किया गया है। 'अशोकवन' शीर्षक उसकी एक कविता में यह रूपक का आरोप केवल सांकेतिक था। यहाँ कवि उस दृष्टिकोण को कुछ विकसित रूप में उपस्थित करता है :

फिर हुई अहल्या मनोभूमि,
चेतना, शिला-सी जड़ निश्चल,
फिर मानवीय बनकर निखरे
भू शाप-मुक्त हो, छू पदतल !

फिर जीर्ण हुआ युग-चाप आज,
फिर वीर विहीन मही अंचल,
तुम वरो धरा-चेतना पुनः
यह विश्वक्रांति का संकट पल !

लो, बनी विमाता पुनः कुमति,
बनवासी सत्य, गृही अब छल,
फिर भौतिक मद का कंचन-मृग
मोहित करता जन-मन दुर्बल !
वह भस्म-रेख, यह नाश-छोर,
फिर साधु-वेश धर हँसता खल,
श्रीहीन हृदय की पंचवटी,
हत लोक-चेतना विश्व विकल !
श्रद्धा जटायु-सी पंख कटी
दो मुक्ति उसे, हे जनवत्सल,

आश्वस्त प्रणत को करो पुनः
निर्ममता के बालों को दल!
उद्वेलित भव-जीवन-वारिधि
दुस्तर, अशांत जन-मन विह्वल
फिर बाँधो नवचेतना-सेतु
हो पार सत्य की सैन्य सकल!
लक्ष्मण-सा ही अब शक्तिक्रांत
विश्वास मर्म आहत, निर्बल,
संजीवन दो फिर मूर्छित को
हनुमत्-सी प्राणद शक्ति अचल!
अह, मेघनाद-सा गर्जन कर
अणु-त्रास कँपाता अतस्तल,
तज कुम्भकर्ण सी युग-निद्रा
जन अहं-अंग-मद जाये ढल!
दशशीर्ष उठाए घृणा घोर,
जलता उर-उर में दावानल,
फिर उसे परास्त करो मन में
जन-जीवन हो संयुक्त, सफल!
वैदेही-सी हो विरह-मुक्त
चेतना, चूम प्रिय चरण कमल,
फिर राज्यारोहण करो, राम,
हृदयासन में, हो जन-मंगल!

(जागरण)

'श्री अरविंद के प्रति' और 'अवतरण' शीर्षक कविताओं में कवि अरविंद की बंदना करता है। अरविंद उसके लिए दिव्यचेतना के प्रतीक हैं। 'अवतरण'

में कवि ने अरविंद के उस दिव्य रूप की बंदना की है जिसमें उन्होंने विश्वचेतना को साकार किया था—

कैसा था वह दिव्य अवतरण,—
( धन्य आज का ज्योति दिवस क्षण !
चिदापगा का अतुल वेग चिर दुर्धर
मनश्चूड़ पर किया दैव ने था जब धारण,
जिज्ञासा से पुलकित अंतर !

स्वर्ण शुभ्र नीहार शृंग पर
फूटी अगणित उषा क्या निखर,
रहस-चकित आलोक-क्रांति में
धरा-स्वर्ग के डुबा दिगन्तर !
अमर ज्योति-पिंडों को पावन
नव प्रकाश में आत्मसात् कर !
विश्व-मनः-संगठन हुआ क्या विकसित ?
नव्य सगुण संचरण दैव में मूर्तित ?
रंग रंग की आभा पंखड़ियाँ
बरसीं क्या निःस्वर
सुरधनुओं-सी भू पर ?

जब अंतर तुषार-शिखरों पर
उतरा अति-आभा काजलधर,
ज्वलित तडिल्लेखाओं से कर
झंकृत सूक्ष्म विश्व का अंबर,
ध्यान मौन तव देव सपंख मेरु से भास्वर
उड़ते थे क्या निश्चल, परम चेतना नभ पर ?

संभव है, कवि की अरविंद-संबधी विचार-धारा से हम सहमत न हों, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उसने योगी अरविंद को अपनी कवि-आत्मा की सारी अनुभूति के साथ देखा है और 'ज्योत्स्ना' काल में उसमें जिस मंगल-कामना का स्फुरण हुआ था, वही उसे आज योगी अरविंद में सबसे अधिक चेतना के साथ विकसित दिखलाई देती है। इसी से वह उनके प्रति प्रणत है। अरविंद स्वयं कवि के स्वर्मन के प्रतीक हैं।

'युगपथ' का कवि अपने चेतनावाद को भारत की आध्यात्मिक संस्कृति की भित्ति दे देता है। गाँधीजी के निधन और भारत की स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद वह देश की चिरपुरातन चिर नवीन संस्कृति की वाणी में बोलने लगा है। वह श्रेष्ठ मानव-भावनाओं का पुजारी बन जाता है। वह कहता है—

**जिस आत्मा में हो नहीं प्रेम की अमर धार**
**वह आत्मा क्या ?**
**जो काट न सके मृत्यु-बंधन ?**
**जिस मन में तप की मति में प्रतिभा की न धार**
**वे मति-मन क्या ?**
**जो कर न सके सत्यालोचन !**
**जिन प्राणों में जीवन की इच्छा की न धार,**
**वह जीवन क्या ?**
**जो कर न सके भव-संघर्षण !**

**( वह मानव क्या !)**

परंतु केवल भावनाओं से काम नहीं चलेगा। साधना भी चाहिये। इसीलिए कवि प्रार्थी है—

**स्वप्नों के यौवन से भर दो हे**
**मेरा मन,**

शोभा की ज्वाला में लिपटा
मेरा जीवन !
मेरे भावों के सतरँग स्तर
बाँधें स्वर्ग-धरा का अंतर
जीवन की आकुल लहरों पर
ध्यानस्थित हो मेरा आसन !
अमर स्पर्श से खोलो हे
उर का वातायन
प्राणों के सौरभ से पुलकित
कर मेरा तन !
(स्वप्न-पूजन)

परतु कवि के मानस की भावना और साधना की यह अंतर्धारा एक विशेष लक्ष्य की ओर प्रवाहित है। वह चाहता है मनुज-चेतना के ऊपर से भू-मन ( मानव की निकृष्ट और पतनोन्मुख प्रवृत्तियों ) का श्यामल छाया उठ जाये और उसमें शोभा के कमल खिलने लगें—

मनुज प्रेम की बाँहों में बँध
विस्मृत हों जगती के सुख-दुख
(करुणा-धारा)

मानव-प्रेम का प्रसार ही नये युग की पुकार है। इसके द्वारा ही भू पर स्वर्ग का अवतरण होगा। कवि की सारी साधना इस ओर ही लक्षित है। 'त्रिवेणी' शीर्षक अंतिम कविता में कवि ने भावना और साधना के इसी समन्वय की ओर इंगित किया है। गंगा साधना को प्रतीक है, यमुना भावना की। सरस्वती वह अतीत, शाश्वत, लोकोत्तर अंतः-सलिला है जो जन-जीवन के नीचे बहती रहती है। वह मानव के अवचेतन की प्रतीक है। इस अंतः-सलिला को ही ऊपर लाना होगा। भावना में गति है, उद्वेग है, आकुलता

है, परंतु उसमें अशांति भी है। साधना गंगा की गंभीर लहरों की भाँति तपोज़्ज्वल है। लोकजीवन के भीतर डूबना होगा। भीतर देखना होगा। भीतर-बाहर का संगम ही मनुष्य को पूर्णता दे सकेगा। कवि का कहना है—

> **भू-मन हो चिर पावन**
> **बाहर-भीतर जड़-चेतनमय**
> **जीवन हो पूर्ण प्रतिक्षण!**
> **गंगा-यमुनी जीवन-धारा**
> **नित बहे अबाध चिरंतन,**
> **संयुक्त हृदय, संयुक्त कर्म हों,**
> **जगमंगल के साधन!**
> ( त्रिवेणी )

'युगपथ' में कवि ने देश के नवीन सांस्कृतिक प्रभात की वन्दना की थी और भारत की मुक्ति को बन्दिनी मानवता की मुक्ति की अग्रचरण बताया था। गाँधी जी के निधन से उसके मन पर क्षण भर के लिए दुःख के बादल छा गये थे परन्तु अंत में उसने गाँधी जी की आत्मा की अपराजेयता और सत्य-अहिंसा की विजय की ही घोषणा की थी। जिन अमर नैतिक तत्वों की नींव पर गाँधी जी ने देश की स्वतंत्रता का भव्य भवन उठाया था, वह पराजय स्वीकार ही नहीं कर सकते, ऐसा उसे विश्वास था। 'उत्तरा' में भी उसका यह विश्वास डिगा नहीं है यद्यपि उसने पूर्वी क्षितिज पर उमड़ते हुए युद्ध के मेघों को स्पष्टतयः देख लिया है। 'युगविषाद' शीर्षक कविता में उसने लिया है :—

> **गरज रहा उर व्यथा-भार से,**
> **गीत बन रहा रोदन,**
> **आज तुम्हारी करुणा के हित**
> **कातर धरती का मन!**

मौन प्रार्थना करता अंतर,
मर्म कामना भरती मर्मर,
युग संध्या : जीवन - विषाद में
आहत विश्व-समीरण !

एक दूसरी कविता 'युग-छाया' में उसने अपने मन की क्लांति को और भी स्पष्ट रूप दिया है। वह कहता है—

दारुण मेघ - घटा घहराई,
युग - सन्ध्या गहराई !
आज धरा - प्रांगण पर भीषण
झूल रही परछाई !
मनुज रक्त से पङ्किल युग - पथ,
पूर्ण हुए सब दैत्य मनोरथ,
स्वर्ण - रुधिर से अभिषेकित अब
नव युग की अरुणाई !

कवि देखता है कि सब कहीं विनाश की शक्तियाँ सृजन की शक्तियों को चुनौती दे रही हैं। गाँधी, मार्क्स, रवीन्द्र, और अरविन्द ने मनुष्य के सामने वहिर्जीवन के जो नये मार्ग खोले थे, वह आज भी जनशून्य हैं। मानवता उसी तरह वर्गों, जातियों, राष्ट्रों और स्वार्थों में विभाजित है। अर्थ ही इस युग में प्रधान हो गया है और उसके असंतुलित वितरण के कारण शोषण और उत्पाड़न, राजनैतिक हडकपों और अंतर्राष्ट्रीय द्वन्दों की एक शृंखला ही बँध गई है। ऐसे युग में कवि की वाणी किस स्थायी तत्व को पकड़े ? पंत कहते हैं—'आज हम बाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युगशिखर पर खड़े हैं जिसके निचले स्तरों में धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का सङ्गीत तथा भावी का सौन्दर्य बरस रहा है। ऐसे विश्वसंघर्ष के युग में सांस्कृतिक

संतुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रत चैतन्य मानव कर कर्तव्य समझता हूँ। और यदि यह संभव न हो सका तो क्रांति का परिस्थितियों-द्वारा संगठित सत्य तो भूकंप, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अक्षय वेग को कौन रोक सकता है?

**कौन रोक सकता उद्वेग भयंकर,**
**मर्त्यों की परवशता, मिटते कट-मर!**

अतएव मेरी इन रचनाओं में पाठकों को धरा-शिखर के इसी संगीत की नवीन चेतना के आविर्भाव-सम्बन्धी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियां मिलेंगी। अपनी श्लक्ष्ण कल्पना - वाणी द्वारा जनयुग के इस हाहारव में मैने मनीषियो तथा साहित्य - प्रेमियो का ध्यान मानव - चेतना के भीतर सृजन - शक्तियों की इन सूक्ष्म क्रीड़ाओं की ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की है जिससे हम आज की जाति - पांति - वर्गों में विकीर्ण तथा आर्थिक - राजनीतिक आंदोलनों में कंपित धरती को उन्नत मनुष्यत्व में बांध कर विश्वमंदिर या भूस्वर्ग के प्रांगण में समावेत कर सके। मेरे गीतो का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है। वे मनुष्य के अतर्जगत तथा भविष्य को अस्पष्ट झांकियाँ भर हैं और नवीन मानव-चेतना के सिन्धु में मेरी वाणी के स्वप्न-अवगाहन अथवा स्वप्ननिमज्जना मान। ऊपर के अवतरण से यह स्पष्ट है कि कवि जहाँ इस पीढ़ी की व्यथा से क्लांत हैं, वहाँ वह भावी पीढ़ियो के सपनों के बोझ को भी ढो रहा है इसी से उसने अपने सग्रह का नाम 'उत्तरा' रखा है। अनागत भविष्य का भ्रूण अभी निश्चित क्रमाकार ग्रहण नहीं कर सका है और स्वयं यह युग महाभारत के अंत की भयानक बात जैसा भारी है। इसीसे कवि आज निराशा और आशा के बीच में डूब रहा है और उसका असंगठित सा हो गया है। 'स्वप्नक्रांत' कविता में वह कहता है :

**स्वप्न-भार से मेरे कंधे,**
**झुक-झुक पड़ते भू पर,**

क्लांत भावना के पग डगमग
कंपते उर में निःस्वर !
ज्वाल गर्भ शोणित का बादल
लिपटा धरा - शिखर पर उज्वल,
नीचे छाया की घाटी में
जगता, क्रंदन मर्मर !
युगस्वप्नों की साँस सुनहली,
बिखरी भू पर टूट ज्यों कली,
जनविषाद में डूब मौन
मुरझाती, रज तम में झर
रोती भू झिल्ली-सी झन झन,
साँसे भरता विश्व-समीरण,
स्तब्ध हृदय-स्पंदन हो उठता,
संशय भय से मंथर !

कैसी दारुण परिस्थिति है ! कवि का मन बार-बार अपने भीतर डूब जाता है और वह जैसे इस अंधकार से निकलने का मार्ग ही नहीं पाता —

जगजीवन आज बना
स्वार्थों का प्रांगण,
जीवन की साधें
कर उठती वन-रोदन,
अंतर कराहता,—
अब युग-परिवर्तन हो !

परंतु उसके भावी के सपने उसे टूटने नहीं देते। वह देखता है कि अंधकार धीरे-धीरे प्रकाश के महासमुद्र में घुला जा रहा है। मानव के भीतर ही जो प्रगति के देवता हैं, जो सुख-दुख, हर्ष-विषाद, नाश और निर्माण की द्वन्दात्मक परिस्थिति में, बाधा-बंधन में प्रतिक्षण बढ़ते हैं, जो काँटों में फूल

खिलाते हैं, वे ही सौन्दर्य, प्रेम, आनंद और क्षेम का वर्षण कर नये मानव को गढ़ रहे हैं—

मैं देख रहा,—
वह ज्योति-मेघ अब
उतरा हृदय-शिखर पर,
प्राणों में स्वर्गिक
इन्द्रधनुष प्रभ
स्वप्नों का पावक भर !

(प्रगति)

उन देवता के प्रति कवि बार-बार प्रार्थी है। वे आ कर मानव-मन को नई प्रेमज्योति से उद्भासित करें और इस पृथ्वी को नदन बनायें। वह कहता है

यह रे विराग की विजन भूमि
मन-प्राणों के साधन के स्तर,
तुम खोल स्वप्न का रहस द्वार
जो आते भीतर आज उतर,—
हँस उठता उर का अंधकार
नव जीवन-शोभा में दीपित,
भू-पुलिन डुबाता स्वर्ग-ज्वार,
रहता कुछ भी न अचिर सीमित;
फिर प्रीति विचरती धरती पर
झरती पग-पग पर सुन्दरता,
बंधन बन जाते प्रेममुक्ति,
देवप्रिय होती नश्वरता।

( युग-विराग )

यहाँ कवि का बल अंतर्जीवन पर है, परंतु वहिर्जीवन भी उसके लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः वहिर्जीवन के बंधन और संघर्ष अंतर्जीवन

की दुर्बलता और कल्मषता के हो साक्षी हैं। इसी से कवि क्रांति के देवता का आह्वान करता हुआ गाता है :

**तुम खोलो जीवन-बंधन !**
**जन-मन बधन !**
**जीर्ण नीति अब रक्त चूसती जन का,**
**सदाचार शोषक मन के निर्धन का,**
**स्वार्थी पशु**
**मुख पहने मानवपन का,--**
**तुम छेड़ो अब अंतर-रण,**
**मन हो प्रांगण !**

**लहराये प्राणों का सागर**
**रीतनीति के पुलिन डुबा कर,**
**घुमड़े वाष्पों से उर अंबर**
**जीवन-भू को कर उर्वर;--**
**तुम कड़को भर युग-गर्जन,**
**झरें अनल-कण।**

**( प्रतिक्रिया )**

कवि यह जानता है कि बाहर - भीतर दोनों के संघर्ष बड़े कठिन है। जहाँ भीतर

**पर्वत पर पर्वत खड़े भीम,**
**अड़ते तृष्णा, अज्ञान, अहं**

**( मेघों के पर्वत )**

वहाँ बाहर जाति, धर्म, वर्ण, राष्ट्र, अर्थ और संस्कृति के अनेक भेद-विभेद हैं, अनेक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ हैं जो मानव की अखंड, अविच्छिन्न अविभाजित एकता को छिन्न-भिन्न कर रही हैं।

'युग-पथ' की अनेक कविताओ में यही कवि-मन की द्विधा उभरती दिखलाई देती है। चारों ओर के दारुण अंधकार में भी भावी की आशा कवि को आशस्त बनाये रखती है। वह नवयुग का जागरण-गान गाता है और नई तरुणाई को ललकारता है—

**वीर, करो फिर क्षुब्ध मनोदधि मंथन,**
**मानव का यह कठिन परीक्षा का क्षण,**
**क्या न करोगे तुम विद्युत्**
**अणु अश्वों पर आरोहण ?**
**महानाश के प्लावन में**
**कर दोगे फूल विसर्जन !**
**वृद्ध धरा पर छाया धूम भयानक,**
**धक् धक् करता महाप्रलय का पावक,**
**विश्वग्लानि में क्या न करोगे**
**मनः-संगठन भू-जन ?**
**मानवीय क्या नहीं बनाओगे**
**जन-भू का जीवन ?**

**( जागरण-गान )**

परन्तु वह यह ललकार उठाकर ही नहीं रह जाता। वह मानवता की उज्ज्वल भावी का भी स्वप्न देखता है। उसे यह विश्वास है कि घृणा का साम्राज्य शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा और मानव-जीवन के सारे बंधन, सारे भेदभाव एकदिन समाप्त हो जायेंगे, प्रकृति के अपार वैभव और हृदय-बुद्धि के सारे पराक्रम के बीच मानव देवता की भांति इस भू पर विचरण करेगा। यह युग-संधि है। इस द्वाभा के बाद प्रकाश का तोरण झूल रहा है। उस नये युग के प्रभात मे

**भू होगी उर-शोणित रंजित**
**अरुणोदय होने को निश्चय,**

रजनी का क्रंदन डूब रहा
बन युगप्रभात में जयकीर्तन !
यह है तमिस्र का शेष छोर,
देखो यह, हँसता वर्ण भोर,
अंतर्नभ नव चेतना द्रवित,
मानवयुग धरता भूतिचरण !

(युग-मन

मानव-जीवन के उस पुण्य-प्रभात की ओर ही जनशक्ति का स्रोत उमड़ रहा है। इसमे संदेह नही कि यह कवि के मन का सपना है परन्तु यह सपना कोरा कवि-स्वप्न नहीं है। इसके लिए कवि को भीतर से तपना पडा है। मानव की मंगलाशा मे अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः गला कर ही वह अपने मन में इस विस्फोट को जन्म दे सका है। उसने कहा भी है :

जलता मन मेघों का सा घर
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर,
दूर, क्षितिज के पार दीखती
रेख क्षितिज का नूतन
बढ़ते अगणित चरण निरंतर
दुर्दम आकांक्षा के पग धर
खुलता बाहर तम कपाट,
भीतर के प्रकाश का तोरण।

(युग-विषाद)

आगे कवि की मंगलकामना का जो स्वर्ग है, उसकी भी एक उज्ज्वल तड़ित्-रेखा कवि ने अपने काव्य में उभारी है :

रक्तपूत अब धरा : शांत संघर्षण,
धनिक-श्रमिक मृत : तर्कवाद निश्चेतन ?

भू-जीवन निर्माण निरत, नव चेतन,
साधारण रे वास वसन, मित भोजन !
विद्युत अणु उसके सम्मुख अब नतफन
वसुधा पर नव स्वर्ग सृजन के साधन,
आज चेतना का गत वृत्त समापन
नूतन का अभिवादन करता कवि मन
(युग-संघर्ष)

अनेक कविताओं में कवि ने अपने इसी आशावाद को मुखर किया है और इसी भू-स्वर्ग के गीत गाये हैं। कही वह प्रतीकों का प्रयोग करता है, कही सहज प्रासादिक ढंग से अपनी बात कह देता है। उसने नई चेतना को कभी नवपावक कहा है, कभी स्वर्गविभा, कभी मधु के फूल, कभी उसे पलाश बनाया है, कभी अमृत-निर्झर। उसने भू और स्वर्ग के परिणय के रूपक को भी अनेक कविताओं में बाँधा है। स्विनबर्न के पृथ्वी के गीतों (Songs of the Hertha) की भाँति पंत के ये गीत भी धरा को नई सुषमा से मंडित कर देते हैं। मृत्य और अमृत्य का रहस-मिलन भू स्वर्ग के परिणय से ही संभव है। इस परिणय का चित्र उपस्थित करता हुआ कभी कवि गाता है—

मैं उतर देखता चकित नयन
रवि-आभा में डूबी धरती,
हरियाली के चल अंचल से
किरणें स्वप्नों के रँग भरतीं !
भू की अतृप्त अंतर-ज्वाला
फूलों में विहँस रही सुंदर,
आकांक्षा का आकुल क्रंदन
मधुकर में गूँज रहा मनहर !

वह मिट्टी की शय्या में जग
भरती प्रकाश में अंगड़ाई,
मुकुलित अंगों से फूट रही
उन्मत्त स्वर्ग की तरुणाई !
वह देवों के उपयोग-हेतु
मिथ खोल रही निज वक्षःस्थल,
उसके प्राणों का हरित तिमिर
जीवन मे निखर रहा उज्वल !
वह मानवीय बन उभर रही
पा स्पर्श निर्जरों का चेतन,
वह बनी शिला से मातृमूर्ति
उर में करुणा का संवेदन ?
आकाश झुक रहा धरती पर
बरसा प्रकाश के उर्वर कण,
धरती उसके उर में बुनती
छाया का सतरँग सम्मोहन !
हो रहा स्वर्ग से धरणी का
जड़ से चेतन का रहस-मिलन,
भू-स्वर्ग एक हो रहे शनैः
सुरगण नर-तन करते धारण !
(भू-स्वर्ग)

इस परिणय की बात को और भी स्पष्ट करता हुआ कवि यह मंगल-गीत गाता है :

फिर ऊर्ध्व तरंगित
हो जन-धरणी का जीवन,
शाश्वत के मुख का
मानव-मन जो हो दर्पण !

मृत्यों पर सुरगण
करें अमरता न्योछावर,
जो व्यक्ति विश्व में
मूर्त बने मानव ईश्वर!
फिर स्वर्ग बजाए
भू की हृत्तंत्री निश्चय,
जो ज्ञान भावना,
बुद्धि-हृदय का हो परिणय!
(परिणय)

'उत्तरा' में प्रकृति-संबंधी कविताएं भी हैं। जगतघन, मेघों के पर्वत, शरदागम, शरद-चेतना, चंद्रमुखी, शरद-श्री, फूल-ज्वाल, जीवनप्रभात, बनश्री, वसंत और रंगमंगल इस श्रेणी की कविताएँ हैं। इन कविताओं में कवि की दृष्टि विशुद्ध प्राकृतिक दृष्टि नहीं है। अब तक के प्रकृति-काव्य से ये भिन्न हैं। 'पल्लव' में कवि प्रकृति के वर्ण-वैभव, उसके आकार-प्रकार और रूप-रंगों की विविधता और पूर्णता से चमत्कृत है। 'गुंजन' में वह कुछ संयमित हो गया है और उसकी दृष्टि मुख्यतः सौन्दर्यनिष्ठ कवि की दृष्टि है। पंत के प्राकृतिक काव्य का सबसे सुन्दर रूप हमें 'गुंजन' में ही मिलता है। यह ठीक है कि 'एकतारा' और 'नौकाविहार' जैसी कुछ कविताओं में कवि प्रकृति से हट कर जीवन-मरण, सुख-दुख जैसे दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करने लगता है, और प्रकृति और तत्त्वचिंतन को अनिवार्यतः मिला देता है, परंतु अधिकांश कविताएँ कवि के प्राणों का मौन गुंजन मात्र हैं और उनमें प्रकृति के सहज वैभव और उसके आभ्यंतरिक उल्लास को ही कविता का रूप मिला है। 'युगांत' की प्रकृति-संबंधी कविताओं के मार्क्सवादी चिंतन के बाद कवि के लिए प्रकृति उतनी महत्वपूर्ण नहीं रही है। वह विचारों में खो गया है। परंतु जो थोड़ी भी

प्रकृति-सबधी रचनाएँ हमे मिलती है उनमें वह विचारो के संसार को पीछे छोड़ देता है और सौन्दर्यद्रष्टा के रूप में ही सामने आता है। उसने गाँव की प्रकृति को भी वाणी दी है और उसकी सौन्दर्यदृष्टि यथार्थ की भूमि पर आ कर और भी आकर्षक हो गई है। इसके बाद भी वह सौन्दर्य और प्रकाश की वर्णच्छटा का ही गायक है।

परंतु 'उतरा' की कविताओं में उसका प्रकृति-संबंधी दृष्टिकोण बदला हुआ है। वह उसके नये चिंतन से लिपटी हुई चलती है। जिस विकसित भू-जीवन के सपने कवि देखता है, वही प्रकृति के ऋतु-वैभव में पल्लवित हो उठे है। वह बादलो को अवचेतन के अधकार का प्रतीक मानता है और इस 'घटघट-वासी जलधर' से प्रीति और करुणा की वृष्टि का वरदान माँगता है। वह कहता है—

**ज्योति-द्रावत हो, हे घन!**
**छाया सशय का तम,**
**तृष्णा भरती गर्जन,**
**ममता विद्युत नर्तन**
**करती उर में प्रतिक्षण!**
**करुण-धारा में झर**
**स्नेह-अश्रु बरसा कर,**
**व्यथा-भार उर का हर**
**शांत करो आकुल मन!**

**(अंतर्व्यथा)**

'मेघों के पर्वत' शीर्षक कविता में मनुष्य के तृष्णा, अज्ञान और अहं ही मेघो का रूप धारण कर लेते है। अवचेतन मन में ही मेघों की चलभूमि है जिसे मेघमुक्त कर के भावी मानव का सुख-प्रासाद निर्मित करना है। कवि युग की जन-शक्तियों के गर्जन का रूपक बाँधता हुआ अपने मनोभाव से प्रश्न कर रहा है—

यह मेघों की चलभूमि घोर
वह रहे जहाँ उनचास पवन,
तुम बसा सकोगे यहाँ कभी
क्या मानव का गृह, मनोभवन ?
जन-जन का मन करता गर्जन,
बरसातीं चितवन विद्युत् कण,
टकराते दुर्दम फेन-शिखर
सागर-सा उफनाता भू-मन !
यह विश्व-शक्तियों की क्रीड़ा
गत छायाएँ बनतीं चेतन,
जन-मन विमूढ़ जिनका वाहक,
बढ़ता जाता युग-संघर्षण !

यह स्पष्ट है कि इस कविता में प्रकृति प्रतीक के रूप में गृहीत है। वह स्वयं कवि के मन की छाया बन गई है। बादल उसके लिए अवचेतन मन के अंधकार के ही प्रतीक नहीं हैं। वह नई चेतना के प्रकाश और नव-जीवन के भी प्रतीक हैं। एक कविता में कवि कहता है :

मैं देख रहा,
वह ज्योतिमेघ अब
उतरा हृदय-शिखर पर,
प्राणों में स्वर्गिक
इंद्रधनुष प्रभ
स्वप्नों का पावक भर !

(प्रगति)

एक दूसरी कविता में वह नवजीवन के अवतरण का और भी स्पष्ट चित्र खड़ा करता है :

बिजली घन में काँप रही थर थर थर,
आँधी बन में टूट रही हर हर हर,
तुम फूट पड़ो नव शोभा के से निर्झर
अभिलाषा का हो गुरु गर्जन,
आशा का प्रलयंकर नर्तन,
बरसे झर आनंद अश्रुकण
खेलें सँग-सँग जन्म-मरण ।

(उद्दीपन)

संग्रह में शरद के संबंध में कई रचनाएँ है। शरद को कवि अपनी चेतना के प्रतीक के रूप में ग्रहण करता है। 'गुंजन' में ही शरद के प्रति कवि का विशेष आग्रह जान पड़ता है और 'ज्योत्स्ना' नाटक में उसने शारदीय सुषमा को ही नवजीवन के सपनों के लिए उपयुक्त समझा है। यह आग्रह अब भी बना है। 'शरदागम' में कवि शरद की नवल शोभा में अपनी प्रियतमा की रूपमाधुरी देखता है और कल्पना के एक नये लोक में खो जाने के लिए आकुल दिखलाई देता है :

जी करता शोभातप में मिल
विचरूँ छाया-बन में झिलमिल,
जाने किस पथ से निसर्ग में
खो, हो जाऊँ ओझल !

'शरदचेतना' में वह शरद का एक अत्यत सुन्दर चित्र उभारता है :

अब बिखर गया पावस का घन,
ठंडा निदाघ का खर अंगार,
अब हँसती उज्वल धुली धूप
उजियाली में आया निखर ।

ऋतु आर्द्र जलद के वस्त्र फेंक
अलसाई अंगों में कोमल,
फिर गूढ़ प्रकृति का मौन स्पर्श
अंतर को छू करता शीतल।
फूलों के रंगों की ज्वाला,
तरुवन का छायातप कंपित,
तुममें भू का कलरव-कूजन
सौरभ-गुंजन–मर्मर गुंफित।

'चंद्रमुखी' में शरद का मंगलनारीरूप चित्रित है :

सद्यस्नात, कृश शुभ्र पीत अंग
कुंद मुकुल स्मिति, गुंजित पट रंग,
सौम्य सलज, चिर प्रकृति अंक में
पली मोहती मुग्धा जनमन!

'शरद - श्री' में कवि ऋतु-परिवर्तन से और भी चमत्कृत है। उसे जान पड़ता है, सारे विश्व में एक ही मौन कामना व्याप्त है जो तरु-पत्रों में मर्मरित हो उठी है। स्वय उसका हृदय में एक नई मगलाशा से ओतप्रोत हो जाता है। उसके सपनों की तरह ही यह संसार एक नई उज्ज्वलता से दीप्त हो उठता है। जान पड़ता है, जैसे सब कुछ बदल गया है :

एक शांति सी, पावनता सी
विचर रही धरती पर निःस्वर,
छायातप में, तृण-अंचल में,
ज्वाल-वसन कुसुमों के तन पर।
रंग-प्राण रे प्रकृति-लोक यह
यहां नहीं दुख-दैन्य अमंगल,

**यहाँ खुला चिर शोभा का उर,**
**यहाँ कामना का मुख उज्वल ।**

मधुऋतु में खिलने वाले फूल कवि को इस सत्य को याद दिला देते हैं कि

**मिट्टी के तंद्रिल मानस में**
**जगते उज्ज्वल फूलों के पल**

**(फूल - ज्वाल)**

और वह कल्पना करने लगता है कि इसी तरह एक दिन भू के साधारण जनों का जीवन भी सौ-सौ वर्णों में दीपित हो उठेगा। फूल उसे चिर सुन्दर, चिर अमृत्य जान पड़ते हैं। अमृत्य और सुन्दर इसी प्रकार नाना रूपों-रंगों में पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है, वह आता-जाता सा लगता है, परन्तु वह कब आता-जाता है, वह तो अटल सत्य है। इसीलिए कवि फूलों से संबोधित हो कहता है :

**तुम आए गए, जगत का छल,**
**तुम हो, तुम होगे, सत्य अटल !**

**(अमृत्य)**

सुन्दरता और मधुरता की पूर्णता यही है कि वह पूर्ण विकास को प्राप्त कर, विश्व को अपना सर्वोत्तम आत्मदान दे एक दिन प्रिय चरणों पर झर जाये। हरसिंगार का एक रात का जीवन उसे यही शिक्षा देता जान पड़ता है। यही मनुष्य की चिर-अभिलषित पूर्णता है। 'वन-श्री', 'वसंत' और 'रंगमंगल' में जीवन की यही पूर्णता व्यंजित है। स्वर्ग-धरा के चिर परिणय की कल्पना कवि ने अपने अनेक गीतों में की है। 'वसंत' में इसी स्वर्ग-धरा के समागम की कल्पना वह करता है :

**देख चुका मन कितने पतझर,**
**ग्रीष्म - शरद, हिम - पावस सुन्दर,**

ऋतुओं की ऋतु यह कुसुमाकर,
फिर बसंत की आत्मा आई
विरह मिलन के खुले प्रीति-व्रण,
स्वप्नों में शोभा प्ररोह मन !
सब युग, सब ऋतु थीं आयोजन,
तुम आओगी, वे थे साधन,
तुम्हें भूल कटते ही कब क्षण—
फिर बसन्त की आत्मा आई,
देवि, हुआ फिर नवल युगागम,
स्वर्ग-धरा का सफल समागम ।

(बसन्त)

युग की जिस नई चेतना की कवि को चिर प्रतीक्षा थी वही उसके मन के भावी स्वप्नालोक में रंजित हो वसंत की वर्णच्छटा में फूटती दिखलाई देती है । अंत में वह उस चेतना से प्रार्थी होता है कि वह भारत के यौवन को नई शोभा से मंडित कर दे :

गूँजे रंग-ध्वनित भू गायन,
उमड़ें रँग रँग के सौरभ घन,
नव स्वप्नों की रंग-वृष्टि से
रंग जाए धरणी का जीवन !
रँगो प्रीति से घृणा-द्वेष रण,
नव प्रतीति से कटुता के क्षण;
जीवन सुन्दरता के रंग से
पंकिल हों जनभू के प्रांगण !

(रंगमंगल)

इस प्रकार कवि प्रकृति को अपने भू-स्वर्ग के सपनों के भीतर से ही देखने लगा है। 'ज्योत्स्ना' में कवि के व्यक्तित्व का जो विस्फोट हमें दिखलाई पड़ता है, वही धीरे-धीरे अधिक सूक्ष्म रूप ग्रहण कर लेता है और कवि ने रूपक के रूप में जिस स्वर्लोक की भूमि पर उतरने की कल्पना की थी, वह उसे आज बहुत नहीं जाना पड़ता।

प्रकृति-संबंधी कुछ कविताओं में और कुछ अन्य कविताओं में भी कवि ने प्रेम को भी अपना विषय बनाया है परन्तु न ये कविताएं संख्या मे ही अधिक हैं न उनमें कवि की संवेदना ही इतनी गहरी बन पड़ी है कि वे महत्व-पूर्ण हो सकें। कवि की प्रेम - स्मृति में अब उतनी तीव्रता नहीं रही। यह अवश्य है कि अब भी

प्रेयसि की मुख-छवि मेघ मुक्त
शशि-रेखा-सी उगती मन में
नीरव नभ में विद्युत् घन-सी
एकाकी स्मृति जगती क्षण में!

परंतु अब इतने दिनों के बाद सब कुछ बदल गया-सा लगता है। कवि अपने भीतर एक महान परिवर्तन कर अनुभव करता है। वह कहता है—

अब प्रेमी मन वह नहीं रहा
ध्रुव प्रेम रह गया है केवल,
प्रेयसि-स्मृति भी व नहीं रही
भावना रह गई विरहोज्वल!
बाहर जो कुछ भी हो बदला
मन का पट बदल गया भीतर,
विकसित होती चेतना उधर,
परिणत जगजीवन का संगर!

(स्मृति)

यह 'पल्लव' के 'आँसू' और 'उच्छ्वास' और 'गुंजन' के प्रेमगीतों की परिणति है। पंत अतीन्द्रिय प्रेम के उपासक हैं। प्रारंभिक कविताओं में जो मांसलता है, जो धरती का स्पर्श है वह शीघ्र ही समाप्त हो गया है। 'ग्रन्थि' और 'उच्छ्वास' की बालिका कवि के अंतर्मन में डूब कर और भी उज्ज्वल हो उठी है। अब वह उससे छाया-प्रकाश के अनेक खेल खेलती है और प्रकृति के अनेक भावोच्छ्वासों में उससे गोपन संभाषण करती है। शरदमेघ के गर्जन में कवि को उसी की ममता-वाणी सुनाई पड़ती है। वह कह उठता है :

> **यह मौन मंद्र गर्जन भरता**
> **युग-युग की प्रिय स्मृतियाँ जगतीं**
> **शोभा की, स्वप्नों की, रति की**
> **आशा-अभिलाषाएँ कंपतीं ?**
> **चाँदनी चार दिन रहती है,**
> **तुम क्षण भर में होतीं ओझल,**
> **तुम मुझे चाँदनी से प्रिय हो**
> **चपले, मैं ममता का बादल !**
>
> **(ममता का बादल)**

इन कुछ थोड़ी कविताओं में कवि के प्रेम की अतीन्द्रिय परिणति ही मिलती है। उनमें वासना की रंगारंगी नहीं है, बीते हुए दिनों की एक शरद-चाँदनी जैसी हल्की स्मृति-छाया भर है।

कुछ प्रार्थनात्मक कविताएँ और गीत भी हैं। 'स्वर्णकिरण' और स्वर्ण-धूलि में भी कुछ इस तरह की रचनाएँ थीं। इन कविताओं में कवि का प्रगति-विरोधी रूप कुछ अधिक स्पष्ट था और इसीसे उनका विरोध भी कुछ अधिक हुआ था। 'उत्तरा' की भूमिका में कवि ने इस विरोध को ष्टि में रखते हुए इन प्रार्थनागीतों को ही लक्षित करते हुए लिखा है :

'मैं अपने स्नेही पाठकों से निवेदन करूँगा कि वे मेरी **रचनाओं** को सॉस्कृतिक चेतना की अस्पष्ट मर्मर के रूप में ग्रहण करें और **युगविषाद का भार वहन कर तुम्हें पुकारूँ प्रतिक्षण** जैसी भावनाओं **को आओ प्रभु के द्वार** की तरह जनविरोधी न समझ लें। ऐसी पुकारो में व्यक्ति के निजत्व कर समावेश अवश्य रहता है, परन्तु ऐसी किसी भी सामाजिकता की कल्पना में नहीं कर सकता, जिसमें व्यक्ति के हृदय का स्पंदन रुक जाये और न शायद दूसरे ही करते होंगे।' जहाँ तक कवि ईश्वर को कोई अलौकिक, मानवोपरि, क्रमविकास - शून्य सत्ता मानता है, वहाँ तक आज के युग के आलोचक का उससे सहमत होना कठिन है, परन्तु जहाँ वह मानव के भीतर ही, प्रकृति के भीतर ही उस सबसे अलग, चिर अनुपम, सतत वृद्धिमान तत्व को खोजता है वहाँ उसका कवि से कोई विरोध नहीं हो सकता। 'मानव ईश्वर' शीर्षक कविता में वह कहता है :

**नव जीवन शोभा के ईश्वर**
**अमर प्रीति के तुम वर,**
**स्वर्ण शुभ्र चेतना-मुकुल से**
**खिलते उर में सुन्दर !**

इसी प्रकार नई चेतना की बन्दना करता हुआ इसी शीर्षक की एक कविता में वह प्रार्थी है :

**नयनों में स्मित नयन भरो सखि,**
**उठा किरण अवगुंठन,**
**मेरे अपलक उर में खोलो**
**शोभा का वातायन !**

परन्तु कुछ कविताओं में कवि अत्यंत गलिदाश्रुता से किसी अपने से बाहर किसी अलौकिक शक्ति के प्रति प्रणत होना दिखलाई पड़ता है। वह गाता है :

नमन तुम्हें करता मन !
हे जग के जीवन के जीवन,
प्रीति मौन उर स्पंदन में
स्मरण तुम्हें करता मन !
अश्रुपूत अब मेरा आनन
तुहिन-धौत वारिज के लोचन,
यह मानस की बेला पावन
करता तुम्हें समर्पण ।

(नमन)

या वैष्णव भक्तों की भाँति उस 'हृदयेश्वर, जगदीश, परात्पर' की एक रूप कल्पना गढ़ता है :

हेम चूड़ पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीष पर,
शत सूर्योज्वल कुवलय कोमल
स्फुरत् किरण मंडित मुख सुन्दर ।
नयन अकूल क्षमा गरिमामय
ज्योति-प्रीति के अतल सरोवर,
अधर प्रवालों पर चिर गुंजित
मौन मधुर स्मिति के मुरली-स्वर ।
सहृदय वक्ष विशाल सिन्धुवत्
विश्वभार भृत अंश धुरन्धर,
करुणालंबित बाहु, बरद कर,
मृत्यु-कलुष-हर चारु धनुष-शर !
बढ़ते युग-युग चरण, छोड़ निज
अक्षय चिन्ह समय के पथ पर

**विश्व हृदय शतदल पर स्थित तुम**
**हृदयेश्वर, जगदीश, परात्पर !**
**(स्तवन)**

जन-जीवन के विकास के लिए मनुष्य ही उत्तरदायी है। वही प्रकृति का माध्यम है। उसे छोड़कर किसी भी परात्पर शक्ति की कल्पना करना और उसके प्रति प्रणति और समर्पण के गीत गाना चाहे कितना ही सुन्दर लगे, उसका जनता के जीवन से, जनशक्ति के विकास से कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के हृदय का स्पंदन करुणा, आत्म-समर्पण, अश्रु जड़ित आत्मनिवेदन और किसी अलौकिक शक्ति में विश्वास से ही क्यों छला जाये ? क्या उसके लिए मानव के अक्षय साहस, उसके आत्म-बलिदान, उसकी अपनी अश्रु-स्वेद की परपंरा और उसकी सतत प्रगति ही सब कुछ नहीं है ?

'उत्तरा' पंत की कविताओं का नवीनतम संग्रह है। उसमें उनकी कुछ धरती तथा युग- जीवन सम्बन्धी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-शृंगार विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थनागीत संग्रहीत हैं। परन्तु इन संग्रहीत रचनाओं से भी अधिक महत्वपूर्ण चीज़ संग्रह की बृहद् भूमिका है जिसमें कवि ने अपने उत्तर जीवन की प्रेरणाओं और विचारधाराओं का विश्लेषण किया है। यह स्पष्ट है कि भूमिका लिखते समय उसने अपने उन आलोचकों को ध्यान में रखा है जो उनकी चेतनावादी और अरविंदवादी रचनाओं से संतुष्ट नहीं थे। आज का युग अत्यन्त संश्लिष्ट युग है और इस युग में कवि का व्याख्याता बन जाना कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। उसे अनेक सामयिक भावनाओं और विचारधाराओं से अपना सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है और यह भी संभावना है कि उसे ग़लत समझ लिया जाये। आज कवि द्रष्टा मात्र नहीं रह गया है। वह नये विचारों का पैग़म्बर भी है। परन्तु कवि की व्याख्या से हम पूर्णतः सहमत हों, यह कोई आवश्यक बात नहीं

है। उसकी रचनाओं को उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मुखर होना चाहिये। फिर भी कवि अपने काव्य और अपने मनस्तत्व में सम्बन्ध में जो समझता है, उसकी एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती, विशेषतयः उस समय जब उसकी कविता में बौद्धिक तत्वों की प्रधानता हो और कवि चेतन रूप से किसी दृष्टिकोण को लेकर चल रहा हो।

पत इस भूमिका ('प्रस्तावना') मे 'ज्योत्स्ना', 'युगवाणी' और 'स्वर्णकिरण' की रचनाओं को एक सूत्र में में बांधना और उन्हे एक निश्चित क्रमविकास देना चाहते है। वे लिखते हैं—'मेरी इधर की रचनाओं का मुख्य ध्येय केवल उस युग-चेतना को अपने यत्किंचित प्रयत्नों द्वारा वाणी देने का रहा है जो हमारे सक्राति-काल की देन है और जिसने एक युगजीवी की तरह मुझे भी अपने क्षेत्र में प्रभावित किया है। इस प्रकार के प्रयत्न मेरी कृतियों में 'ज्योत्स्ना'-काल से प्रारम्भ हो गए थे। 'ज्योत्स्ना' की स्वप्न-क्रात चाँदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्ण-किरण' में युगप्रभात के आलोक मे स्वर्णिम हो गई है।

**वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आँगन पर**
**तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर**

'चाँदनी' को सबोधित 'ज्योत्स्ना' — काल की इन पक्तियो में पाठकों को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी। मुझे विश्वास है कि 'ज्योत्स्ना' के बाद भी मेरी रचनाओ को तुलनात्मक दृष्टि से पढने पर पाठक स्वय भी इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। बाहरी दृष्टि से उन्हे 'युगवाणी' तथा 'स्वर्ण-किरण' काल की रचनाओं में शायद परस्पर-विरोधी विचारधाराओं का समावेश मिले, पर वास्तव में ऐसा नहीं है।' इस कथन में 'गुंजन' से लेकर 'उत्तरा' तक की लगभग बीस वर्षों की साधना को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है। इसमें सदेह नही कि किसी अंश में यह कथन सत्य भी है। इसमें तो सन्देह नहीं कि 'पल्लव'-काल में जिस कवित्व का परिचय हमें पत के काव्य में मिलता है वह 'गुंजन' के बाद उनके मानव-जीवन के स्वप्नों और अनेक राजनैतिक-सांस्कृतिक समन्वयों के नीचे दब गया। 'ज्योत्स्ना'

( १९३४ ) में हम कवि के व्यक्तित्व में एक नवीन विस्फोट देखते है। उसमें वह भू-जीवन के लिए एक नये स्वर्ग का कल्पना करता है। इस कल्पना के पीछे चिन्तन का बल नहीं है, फिर भी यह बड़ी मोहक है। उषा के मुख से वह कहलाता है—'इस जीवन के पास कितने रूप-रङ्ग, कितने हाव-भाव, कितना सुख और सौन्दर्य है! यह रूप-रङ्ग, रुचि-रेखा का संसार ही मुझे प्रिय है। इस जड़ मिट्टी के आवरण को फाड़कर, जीवन की अमर उर्वरता, अपने ही सृजनसुख के कारण, असख्य आकार-प्रकार धारण कर, नित्य नव-नव कलि-कुसमो, भावनाओं-कल्पनाओं एवं हासोच्छ्वासों मे फूट-फूट पड़ती है। जीवन की अकलुष स्मिति मिट्टी के अस्थिर अधरों पर से मानों कभी कुम्हलाना ही नहीं चाहती! किसी अज्ञात सुखस्पर्श से यह निर्जीव, चेतनाशून्य धूलि नई-नई हरीतिमा मे, नव-नव अंकुरो में निरन्तर रोमांचित होती रहती है! जीवन का यह आश्चर्यजनक अक्षय रहस्यसृजन हृदय को विस्मय से अवाक् कर देता है। केवल इसके सामने श्रद्धापूर्वक झुक जाने को जी करता है।' जीवन की इस रहस्यमयता और दैवी भावना के साथ ही कवि ने मानव मे देवोत्तर सुषमा का भी अवलोकन किया है। उसने गाया है :

**न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर**
**देवता यही मानव शोभन,**
**अविराम प्रेम की बाँहों में**
**है मुक्ति यही जीवन-बंधन!**
**है रे न दिशावधि का मानव,**
**वह चिर पुराण, वह चिर नूतन,**
**मानव के हैं सब जाति-वर्ण,**
**सब धर्म, ज्ञान, संस्कृति, बल, धन।**

इस प्रकार उसके परवर्ती भू-वाद और मानववाद का स्फुरण 'ज्योत्स्ना' में ही दिखाई पड़ जाता है। मध्ययुग का आध्यात्मिक व्यक्तिवाद आधुनिक

युग के भूतवाद, विज्ञानवाद और समाजवाद को वह अपूर्ण समझता है, ऐसा 'ज्योत्स्ना' के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। कल्पना कहती है— 'विगत युगों का मनुष्य मनस्तत्व को विवेचना में अधिक सफल नहीं हुआ, इसीलिए मनोजगत् को अनिर्वचनीय, माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग - विराग की सहायता से अपने को भुलावे में डाल उसने जीवन को अज्ञानजनित, दुःख - जनित समझ लिया और अपनी आत्मा के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग का इन्द्रजाल निर्मित कर इस जन्म-मृत्यु, सुख-दुख के चिर आलिंगन-पाश में बँधी हुई जीवन की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पाने के लिए उसने अनेक छाया-सत्यों पर अवलंबित एक मिथ्या आत्म - प्रवचना का आश्रय ग्रहण किया। जिस असीम जीवन-शक्ति के अमर स्पर्शों से यह चेतनाशून्य मिट्टी अनेक रूप-रङ्गों में पुष्पित-पल्लवित हो, मृत्यु के अन्धकार से चेतना के प्रकाश में आ, असंख्य जीवों एवं प्राणियों का सुन्दर आकार-प्रकार धारण कर ऐश्वर्यमयी होती रहती है, उसके स्नेह-पाश से मुक्त होकर फिर से श्वास को वायु में, देह को मिट्टी में मिला देना ही उसका उसका चरम लक्ष्य रहा! इस युग के मनुष्य का ध्यान भूतप्रकृति की ओर गया है। संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल वाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है, जिसके लिए उसने भूतविज्ञान को सृष्टि की है। वह देश-काल एवं भौतिक शक्तियों को हस्तगत कर रहा है। पर भूत-प्रकृति ही उसके कष्टों का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक-ठीक निर्णय वह अभी नहीं कर पाया। मानव-जीवन के वाह्य क्षेत्रों और विभागों को संगठित एवं सीमित कर अपने आंतरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है। 'ज्योत्स्ना' के एक पात्र मि० खेर की उक्ति से यह स्पष्ट है कि पंत समाजवाद के प्रति विशेष संवेदनाशील नहीं हैं। वह उसे इस युग का सब से विकट परिणाम समझते

हैं, जो मनुष्य को समाज के गज के बौने गिरहों एवं इंचों में सीमित कर देना चाहता था। व्यक्ति और समाज में से किसी एक का भी पक्ष ग्रहण कर लेने से दूसरे के प्रति न्याय करना कठिन है। इसीसे उन्होंने कहलाया—'जिस प्रकार व्यक्ति आज का मान नहीं हो सकता, उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति का मान नहीं बन सकता। हमारे सामाजिक - वैयक्तिक आदर्शों का वैषम्य एवं विभिन्नता इसका ज्वलंत प्रमाण है। समाज एवं व्यक्ति में सामंजस्य स्थापित करना ही होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक तरह से पंत के परवर्ती काव्य के सारे विषय 'ज्योत्स्ना' में ही आ जाते हैं।

परन्तु 'ज्योत्स्ना' का कोई भी पाठक कह देगा कि उसमें पंत की दृष्टि कवि दृष्टि ही है, चिंतक की दृष्टि उसमें नहीं है। 'ज्योत्स्ना' का कवि व्यक्तित्व धीरे-धीरे अपने क्षेत्र से हटता गया है, उन्होंने और उनका चिंतनशील व्यक्तित्व अधिक-अधिक सामने आता गया है। जिस समाजवाद को 'ज्योत्स्ना' में अपने युग का सबसे विकट परिणाम' कहा, उसे ही उन्होंने 'युगवाणी' में अपनाजीवन-दर्शन बना लिया। 'ग्राम्या' में मार्क्सवाद और समाजवाद के आग्रह के कारण ही वह जनजीवन की ओर उन्मुख हुए परन्तु कदाचित् मार्क्सवाद भी उनको पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं कर सका। 'ज्योत्स्ना' में वह स्पष्टतयः आध्यात्मिक स्तर पर हैं। अतः उनके अवचेतन ने समाजवाद के विरोध में गांधीवाद, औपनैषिक दर्शन और विकासवाद को अरविन्दवाद के रूप में ग्रहण कर लिया। कुछ अन्य वैयक्तिक और अवैयक्तिक कारण भी थे। 'उत्तरा' में हम उन्हें अपने दोनों दृष्टिकोणों में संतुलन, विश्लेषण और समन्वय की ओर बढ़ते पाते हैं। 'उत्तरा' की भूमिका में पंत ने अपने चिन्ताक्रम को एक सूत्र में बांधा है, परन्तु यह स्पष्ट है कि उनकी चिन्ता विकासशील रही है। आज चाहे उसे किसी सूत्रविशेष में बांध दिया जाये, परन्तु उसकी अपनी गतिविधि है और उसका विकासक्रम ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। वह लिखते हैं--'ज्योत्स्ना में मैंने मानव-जीवन की जिन वहिरंतर मान्यताओं में समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन समन्वय या सामाजिकता (मानवता) में

उनके रूपातरित होने की ओर इगित किया है,'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) स चरण जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है तथा 'स्वर्णकिरण' में अंतर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है। जो हो, यह स्पष्ट है कि उत्तरा का कवि न मार्क्सवादी है न गाँधीवादी न पूर्णतः अरविन्दवादी। अपने 'चेतनावाद' को वह पीछे छोड़ आया है और कदाचित् उसने इन सबके समन्वय तथा सश्लेषण में अपने युग-जीवन का सत्य पा लिया है। भावी पीढियो लिए यह सत्य महत्वपूर्ण होगा, इसमें संदेह नहीं।

'उत्तरा' की भूमिका से यह स्पष्ट है कि

१—पत मार्क्सवाद को अब भी 'एक व्यापक समतल सिद्धात' के रूप मे स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। कदाचित् मनुष्य के बहिर्जीवन के संगठन में वे उसे सबसे अधिक उपयोगी मानते हैं। परन्तु 'कम्यूनिज़म' के रक्तक्रांति और वर्गयुद्ध के पक्ष उन्हें स्वीकार नहीं। वे इन्हे मार्क्स के युग की सीमाएँ मानते हैं। मार्क्स के लिए इनसे आगे जाना सम्भव नही था। संभव है दूसरे मार्गों से भी मार्क्सवाद के लक्ष्य तक पहुँचा जा सके।

२—वे राजनैतिक-आर्थिक पुनर्संगठन को ही सब कुछ नहीं समझते। वे मनुष्य के सामने एक व्यापक सांस्कृतिक बोध का लक्ष्य रखते हैं। वह कहते हैं—'मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक-आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओ द्वारा ही मानव-जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आंदोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, संसार में, एक व्यापक सांस्कृतिक आदोलन को जन्म लेना होगा जो मानव-चेतना के राजनीतिक-आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—सपूर्ण धरातलों में मानसिक संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा। भविष्य में मनुष्य के आध्यात्मिक (इस युग की दृष्टि से बौद्धिक, नैतिक,) तथा राजनीतिक संचरण—प्रचलित शब्दों में धर्म, धर्म, काम—अधिक समन्वित हो जाएँगे और उनके बीच का व्यवधान मिट जाएगा—अथवा राजनीतिक

आन्दोलन सांस्कृतिक आन्दोलनों में बदल जायेंगे।' उनका कहना है कि लोक-संगठन का आधार चाहे मार्क्सवाद हो परन्तु उसके साथ ही गाँधीवाद को पीठिका बनाकर मनः-संगठन ( संस्कार ) का भी अनुष्ठान उठाया जाये।

३—यह सांस्कृतिक चेतना जनवाद की विरोधी नहीं होगी, वरन् उसे पुष्ट ही करेगी। परन्तु पन्त जनवाद को राजनीतिक संस्था या तन्त्र के वाह्य रूप में ही न देखकर उसे भीतर, प्रजात्मक मानव-चेतना के रूप में भी देखते हैं और अपने 'अध्यात्मवाद' को जनतन्त्र की आंतरिक (आध्यात्मिक) परिणति मानते है।

४—वह जहाँ वर्गहीन सामाजिक विधान के लिये प्रयत्नशील हैं, वहाँ युगसंघर्ष में जनसंघर्ष के अतिरिक्त अतः-मानव का संघर्ष भी देखते हैं। यही उनके लिए सांस्कृतिक पक्ष है। पूर्व के दार्शनिक विधानों उन्हें यह पक्ष पुष्ट दिखलाई देता है। वे कहते हैं— 'भारतीय दर्शन भी आधुनिकतम भौतिक दर्शन ( मार्क्सवाद ) की तरह सत्य के प्रति एक उपनयन (एप्रोच) मात्र है, किंतु अधिक परिपूर्ण; क्योंकि वह पदार्थ प्राण (जीवन), मन तथा चेतना (स्पिरिट) रूपी मानव - सत्य के समस्त धरातलों का विश्लेषण तथा संश्लेषण कर सकने के कारण उपनिषद ( पूर्ण एप्रोच) बन गया है।' इस प्रकार कवि वहिर्जीवन के लिए मार्क्सवाद और अंत-र्जीवन के लिए उपनिषद के आत्मवाद का आधार ग्रहण करता है।

५—अंत:-संगठन के लिए जहाँ कवि ने औपनिषदिक आत्मवाद या वेदांत को स्वीकार कर लिया है वहाँ वह सत्य - अहिंसा के सिद्धान्तों को भी अंतःसङ्गठन (संस्कृति) के दो अनिवार्य उपादान मानता है। अहिंसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ में संस्कृत होना, मानव बनना है। सत्य का दृष्टिकोण मान्यताओं का दृष्टिकोण है और ये मान्यताएँ दो प्रकार की हैं। एक ऊर्ध्व अथवा आध्यात्मिक,

और दूसरी समदिक्‌, जो हमारे नैतिक-सामाजिक आदर्शों के रूप में विकास-क्रम में उपलब्ध होती है। ऊर्ध्व मान्यताएँ उस अंतस्थ सूत्र की तरह हैं जो हमारे वहिर्गत आदर्शों को सामंजस्य के हार में पिरो कर हृदय में धारण करने योग्य बना देती हैं।

६—कवि अब इस अंतर्सङ्गठन अथवा अंतर्जीवन के सत्य पर ही अधिक बल देने लगा है। वह कहता है—'इस राजनीति तथा अर्थशास्त्र के युग में मुझे एक स्वस्थ सांस्कृतिक जागरण की आवश्यकता और भी अधिक दिखाई देती है। राजनीति का क्षेत्र मानव-जीवन से सत्य के सम्पूर्ण स्तरों को नहीं अपनाता, वह हमारे जीवन की धरती पर चलने वाला समतल चरण है, हमे अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की ओर चढ़ने वाले एक ऊर्ध्व सचरण की भी आवश्यकता है, जो हमारे ऊपर के वैभव को धरती की ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक-आर्थिक ढाँचे को शक्ति, सौन्दर्य, सामन्जस्य तथा स्थायी लोक-कल्याण प्रदान करे अन्यथा पृथ्वी के गहरे पंक में डूबा हुआ मनुष्य का पाँव ऊपर उठ कर आगे नहीं बढ सकेगा। अणुबम के आगमन के बाद हमारे अग्निभुज सैनिक, शक्तिकामी राजनीतिक, तथा अधिकार-लुब्ध लोक-सङ्गटनों का सत्य अपने आप ही जैसे-निरस्त्र तथा परास्त हो गया है। मनुष्य को आज एक अहिंसक संस्कृत प्राणी के स्तर पर उठना ही होगा, एवं जीवन के प्रति अपने दृष्टि-कोण को बदल कर अपनी शक्ति के लिए नवीन उपयोग (ऊर्ध्व पथ) खोजना होगा।' इसीलिए कवि एक विराट सांस्कृतिक आंदोलन का आयोजन करना चाहता है। वह इस आंदोलन को इस लिए भी महत्वपूर्ण समझता है कि धार्मिक व्यवस्थाओं तथा संस्थाओ से हमारे युग की आस्था उठ रही है। एक तरह से उसका यह सांस्कृतिक आयोजन प्रवृत्तियों के पशु-मन को मनुष्यत्व के सौन्दर्य-गौरव से मंडित करने के लिए है। इस मनुष्यत्व को ही कवि ने 'आत्मा' माना है। इस तरह अंततः वह नैतिक और आध्यात्मिक तत्वों को ही अधिक मूल्य देने लगता है।

जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है, हम पन्त के दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण कह सकते हैं। परन्तु दो बातें चिन्त्य अवश्य हैं। पहली बात तो यह है कि कदाचित् कवि 'अंतर्मन' के सङ्गठन या 'अध्यात्म' को अत्यधिक महत्व दे रहा है। जैसा उसने लिखा है वह सांस्कृतिक पुनर्निर्माण को प्रतिगामी नहीं मानता। उसने भूमिका में 'सांस्कृतिक' शब्द की व्याख्या भी कुछ इस प्रकार की है कि उसे प्रतिगामी मानना कठिन हो जाता है। परन्तु यहाँ प्रश्न तो बल देने का है। वहिर्जगत क्या अंतर्जगत से कम महत्वपूर्ण है? अतर्जगत के निर्माण में क्या वहिर्जगत का कोई हाथ नहीं है? क्या हमारे अंतर्मन के बहुत से निरोध आर्थिक, सामाजिक और वैयाक्तिक वस्तुस्थिति की उपज नहीं हैं? केवल अतर्मन में सिमट कर किस मुक्ति की आशा की जा सकती है? फिर ऐसी मुक्ति की कल्पना वैयक्तिक ही हो सकती है, सामूहिक रूप से अतर्मन के नव सस्कार का आंदोलन क्या होगा, उसका रूप किस प्रकार का होगा, वह कहाँ तक सफल हो सकेगा, यह कहना कठिन है। कवि जिस दिशा में बढ़ रहा है उससे तो यही आशा की जा सकती है कि वह अध्यात्म के सुख-सपनों और वैयक्तिक साधना के अंतर्नभ मे खो जायगा। यह परिणति बुरी नहीं है परन्तु क्या इस बौद्धिक-मात्र परिणति से काव्य या जीवन का कोई बड़ा सत्य प्रस्फुटित हो सकेगा? अपने बौद्धिक विश्लेषण से कवि मार्क्सवाद और गांधीवाद, पश्चिम के भौतिक ज्ञान और पूर्व की आध्यात्मिक समृद्धि के एकीकरण पर पहुँचा है। इससे तो कदाचित् कोई असहमत नहीं होगा, परन्तु जब वह अपने सांस्कृतिक आंदोलन को केवल अंतर्मन के संगठन तक सीमित करता है और किसी अलौकिक शक्ति की सहायता के लिए प्रार्थी होता है तो उससे सहमत होना कुछ कठिन ही हो जाता है। भूमिका में उसने अपने आलोचकों के आक्षेपों का निराकरण किया है, परन्तु उसका गद्य उसके आलोचकों को जितना आश्वस्त करेगा, कदाचित् उसका पद्य उन्हें उतना आश्वस्त नहीं कर सकेगा।

फिर दूसरी बात भी है और वह कदाचित् अधिक महत्वपूर्ण है। आज का कवि राजनैतिक तर्क-वितर्क अथवा अध्यात्म के इंद्रजाल में क्यों उलझ जाये? हम यह मानते हैं कि कवि चिंतनशील प्राणी है और काव्य केवल मात्र ऊहापोह नहीं हो सकता, परन्तु द्रष्टा रूप से कवि जितना जीवन देखे, चाहे वह जीवन अतीत का हो, या वर्तमान का हो, या भावी का हो, वही क्या उसके लिए बहुत नहीं है? 'ज्योत्स्ना' में पन्त ने भावी जीवन का जो मंगल-स्वप्न देखा था वह कवित्व से मंडित था, उसमें वादों और विवादों का विशेष महत्व नहीं था, उसमें भावी मानव के ऊर्ध्व संचरण के लिए अनेक सन्देश थे। पद्य में होने पर यह मंगलस्वप्न कदाचित् 'कामायनी' से भी बड़ी चीज होता। कवि के व्यक्तित्व, उसकी प्रतिभा, उसकी कल्पना और उसकी वायवी छलनाओं को मूर्त करने की जैसी क्षमता इस रचना में मिलती है उससे हम कवि से 'फास्ट' की भाँति किसी बड़े युगधर्मी काव्य को आशा कर सकते थे। परन्तु कदाचित् कवि इस अंतःस्फोट को सह नहीं सका और उसका कवि - व्यक्तित्व बिखर गया। संगठित रहकर वह हिंदी की बहुत बड़ी निधि होता। कवि के सन्देश की महत्ता और उसकी ईमानदारी में सन्देह होने का कोई कारण नहीं है, परन्तु उसे युग के अनुरूप प्रतीकों के माध्यम से काव्य के भीतर से प्रकाशित होना चाहिये था। कवि से हम यही आशा करते हैं कि वह काव्य की भूमि पर कल्पना के नन्दन-प्रसून खिलाये, शिव को सुन्दर के अमृत से सींच कर हमें दे। रस-धर्मी बन कर ही कवि का सपना हमारे प्राणों को छूने में समर्थ होता है।

परन्तु पन्त अभी अपने युग-गद्य में कल्पना के कमल खिलाने में समर्थ हैं—'युगपथ' की रवीन्द्रनाथ के प्रति लिखी कविता इसका प्रमाण है—और उन्होंने प्रकृति और प्रेम के स्पंदन को एकदम खो नहीं दिया है। 'उत्तरा' में जो थोड़ी सी कविताएँ इन विषयों पर हैं वे यही कहती हैं। अभी उनमें बड़ी-बड़ी आशाएं हैं। सम्भवतः वे अपने भावी मानव के सपने

को रसबोध और कला के भीतर से भी विकसित करेंगे। 'उत्तरा' में उन्होंने कहा है—

**मैं रे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा स्वप्निल गुंजन**
**आगे आएँगे तरुण भृंग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण**

परन्तु यह निश्चय ही कवि की अपनी सीमाओं की स्वीकृति नहीं हो सकती। इस युग का सत्य और उसके चिंतन का सत्य किसी ऐसे देवमंदिर में प्रतिष्ठित होना चाहता है जिसमें कल्पना के बिल्लौरी स्तम्भ लगे हों और जिसके नीचे रस के अजस्र स्रोत प्रवाहित हों।

फिर भी उन्होंने जो दिया है वह हिंदी के लिए अक्षय वरदान ही रहेगा। उनका मंगलाशी स्वर, उनका मानववाद, उनके भू-स्वप्न, उनके प्रकृति के खंड चित्र, उनकी गीतिमाधुरी और उनकी कला का संयमित रूप युग-युग तक हमें चमत्कृत करते रहेंगे। नई रचनाओं में उन्होंने भारत के नव जागरण एवं उसके सांस्कृतिक गौरव का जो चित्र खींचा है, वह भावी पीढ़ियों को सदैव ही अनुप्राणित करता रहेगा। मानवमङ्गल के सपनो के महान कलाकारों गेटे, शेली, तुलसी और रवीन्द्रनाथ के साथ वह प्रतिष्ठित होंगे। खड़ी बोली की कविता को 'वीणा' के तुतलाते हुए स्वर से ऊपर उठा कर 'परिवर्तन' के मेघगर्जन, 'गुंजन' के मौन मर्मर, 'युगवाणी' के शंखनाद, 'ग्राम्या' के मृदंग-घोष और परवर्ती कविताओं के विविध वाणी-विलास तक उन्होंने पहुँचाया है। उनकी वाणी के द्वारा हिन्दी भारत की सीमाओं को लाँघ कर उन दूर देशों में पहुँचेगी जहाँ नई पीढ़ी के तरुण युवक भू-वाद और भू-संस्कृति के सपने देखने लगे हैं और जहाँ महायुद्धों के अणुमेघों की छाया के नीचे भावी पीढ़ियों का नवीन जीवन अंकुरित हो रहा है। उनके नए जीवन के सपनों में इतनी सामर्थ्य है, इसमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं। उन्होंने कहा है :

मैं ही केवल इस धरती पर
धर रहा नहीं स्वप्नों के पग,
मैं देख रहा, छायाओं के
पदचिह्नों से कंपित भू-मग !
ये मृत्यों के पद कभी रहे
देवों के चरण, नहीं संशय;
नव स्वप्नों के ज्वाला-पग धर
जन कभी चलेंगे हो निर्भय !
( स्वप्न-वैभव )

जगमङ्गल का यह अदम्य विश्वास किसी भी आलोचना - प्रत्यालोचना के सम्मुख अपराजेय ही है। यह मङ्गलभावना केवल कवि की भावुकता नहीं है, उसके नीचे बौद्धिकता की दृढ़ चट्टान है और उसके साथ सम्पूर्ण मानवजीवन को द्रष्टा की भांति देखकर उसके लिए एक भू-विराट सांस्कृतिक आंदोलन की योजना है। स्वप्नों के इस मङ्गलजगत में कवि कर्मी बन गया है। उसने कल्पना के जादू-प्रदेश में जो रंग - रूप खो दिये हैं, वह उसके दृढ़ विश्वासो की भुजाओं से निर्मित भावी मानव-संस्कृति की मङ्गल-प्रतिमा की मांसलता में कल स्वतः ही उभर आयेंगे, क्या ऐसी आशा व्यर्थ होगी ?

७

# पंत के काव्य का विश्लेषण

पंत का काव्य थोड़ा नहीं है, अपने युग के सारे कवियों में वह सबसे अधिक सवेदनाशील रहे हैं। उनमें हमे भावुकता और चिंतन का मणि-कांचन सयोग प्राप्त हुआ है। इन सब कारणों से एक स्थान पर उसका विश्लेषण करना कुछ कठिन हो सकता है। द्विवेदी युग की प्राणहीन, जड़, इतिवृत्तात्मक कविता के बीच 'वीणा' की कुसुमकोमल झंकार कैसे उठी, उस महान सांस्कृतिक मरु में, अन्त्यानुप्रास की दादुरावृति में 'पल्लव' का वह हरित-भरित स्वप्नवैभव कैसे जाग उठा! आज इस पर आश्चर्य होता है। दिवेदीयुग की मरुभूमि में जो कवि रस-स्रोत बहाने में समर्थ हुए उनमें पंडित रामनरेश त्रिपाठी, पं० रूपनारायण पांडेय, मुकुटधर पांडेय, पं० बदरीनाथ भट्ट और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी प्रमुख हैं। अदृष्ट सत्ता के प्रति प्रेमभावना, लौकिक प्रेम को अध्यात्मोन्मुख करने की प्रवृत्ति, प्रकृति के स्वच्छंद और रमणीय प्रसार की ओर दृष्टि पहले-पहल इन्हीं कवियों में मिलती है। १९१३ ई० से सन् १९१६ ई० तक इस नये काव्य का प्रवर्तन हुआ। इस समय की कुछ कविताओं में हमें इतिवृत्तात्मकता, भावुकता, व्यंजना-शैली का प्रयोग और जीवन के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। ऊपर जिन कवियों के नाम लिये हैं, जान पड़ता है वे अपने युग की नीरसता, अभिधा-प्रधान शैली, इतिवृत्तात्मकता और कल्पनाहीनता एवं रसशून्यता से ऊब गये थे, कम से कम भाव-प्रकाशन की अधिक सरल-सरस और मार्मिक शैली की ओर बढ़ना चाहते थे। जिन कवियों ने अंग्रेजी काव्य का अध्ययन किया था या जो अंग्रेज़ी और बंगला काव्य से परिचित थे, उन्हें इस के वातावरण से पूरा-पूरा सतोष

नहीं हो सका। उनके सामने अपने काव्य-क्षेत्र में दो प्रकार की प्रवृत्तियां थीं। कुछ कवि रीतिकालीन परंपरा के पोषक थे। वे उसके वासना - प्रधान रूप को ही सब कुछ समझ रहे थे। कवित्त, सवैये और घनाक्षरी ही उनके एक - मात्र छन्द थे। तुक ही उनके लिए कवि-कर्म का सर्वोच्च विकास था। अनुप्रास ही उनके लिए काव्यकला बन गई थी। परन्तु उनके शब्दों में युगों के प्रयोग के कारण सहजप्राप्त चिक्कणता थी, ब्रजभाषा की सारी मधुरता उनमें व्याप्त थी। इन शब्दों के सचयन मात्र से कविता बन जाती था। इसके विरुद्ध द्विवेदीयुग की कविता में खड़ी बोली का प्रयोग हो रहा था जिसके शब्दों को अभी प्राणों का रस प्राप्त नहीं हुआ था। कुछ लोगों का विचार था कि खड़ी बोली की कविता मधुरता और गीतात्मकता में कभी भी ब्रजभाषा की कविता की समता नहीं कर सकती। जहाँ रीति काल की कविता की आत्मा कलुषित और परंपराबद्ध हो गई थी, वहाँ द्विवेदीयुग की कविता में कला और कल्पना का वैभव किंचित मात्र भी नहीं था। जिन कवियो का उल्लेख हमने ऊपर किया है वे भी परिस्थिति में बहुत-कुछ परिवर्तन नहीं ला सके।

ऐसे समय में 'वीणा' की कविताओं ने यदि सुधी पाठकों और काव्य-रसिकों को आकर्षित किया तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। इन कविताओं में शिशु-सारल्य तो था ही, वे हमें भावना में डुबाने में भी समर्थ थीं। उनमें शिशु की तुतलाहट थी परन्तु साथ ही शिशु की सजीवता भो। कवि ने गाया :

> **है स्वर्ग नीड़ मेरा भी जग-उपवन में,**
> **मैं खग सा फिरता नीरव भाव-गगन में;**
> **उड़ मृदुल कल्पना-पंखों पर, निर्जन में**
> **चुगता हूँ गाने बिखरे तृन में, कन में ?**
>
> **(१९१९)**

उसने अपने कोमल स्वर मे कुछ नई ही ढग की प्रार्थना की :

बना मधुर मेरा जीवन !

× ×

वंशी से ही कर दे मेरा
सरल प्राण औ' सरस वचन,
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें,
बोलूँ अधिक मधुर मोहन ;
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मंत्रमुग्ध, नत फन,
रोम-रोम के छिद्रों से मा !
फूटे तेरा राग गहन !
बना मधुर मेरा तन-मन !

(जनवरी, १६१६)

बालिका–जैसी कोमल भावुकता के साथ शब्दो की नई मधुरिमा से हिंदी-जगत पहले-पहल परिचित हुआ। 'आकांक्षा' में कवि ने लिखा :

तुहिन बिन्दु बनकर सुन्दर,
कुमुद-किरण से सहज उतर,
माँ ! तेरे प्रिय पद पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ
इस ऊषा की लाली में !

तरल तरंगों में मिलकर,
उछल-उछल कर, हिल हिल कर,
मा ! तेरे दो श्रवण-पुटों में
निज क्रीड़ा-कलरव भर दूँ
उमर अधखिली बाली में !

उस युग के कुछ आलोचकों को कवि-शिशु के ये तुतले स्वर बड़े अटपटे लगे। उन्होंने इन स्वरों की हँसी भी उड़ाई, परन्तु इन स्वरों में कुछ ऐसी सरसता थी कि उन्होंने पाठकों का हृदय मोह लिया। परन्तु 'पल्लव' (१९२७) के प्रकाशन के साथ हिंदी कविता में एक तूफ़ान ही उठ खड़ा हुआ। १९१८ ई० से १९२७ ई० तक 'पल्लव' में संग्रहीत रचनाएँ 'सरस्वती' और 'मर्यादा' में प्रकाशित होती रही थीं, परन्तु अब पुस्तकाकार सामने आने पर आलोचकों का ध्यान उनकी ओर विशेष रूप से गया। इस संग्रह में कवि ने एक विशद भूमिका जोड़ दी थी। वैसे 'वीणा' में भी उसने एक छोटी-सी, परन्तु क्रांतिकारी भूमिका जोड़ी थी, परन्तु इंडियन प्रेस में (जहाँ से 'वीणा' प्रकाशित हुई) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का एकाधिकार था और उन्होंने प्रकाशकों से आग्रह करके भूमिका का एक अंश निकलवा भी दिया था। मई १९२७ ई० की सरस्वती में उन्होंने 'कवि-किंकर' के नाम से पंत की 'वीणा' की एक विरोधी आलोचना भी प्रकाशित कराई थी। 'भारतेन्दु' भाग १, १९२८ में पंत ने द्विवेदी जी के व्यंगों का उत्तर व्यंग से दिया था—

"व्यास, कालिदास के होते हुए, तथा सूर, तुलसी के अमर काव्यों के रहते हुए भी ये कवि यशोलिप्सु, कवित्वहंता, छायावाद के छोकड़े, कमल-यमल, अरविंद-मलिंद आदि अनोखे-अनोखे उपनामों की लाङ्गूल लगा, कामा-फुलस्टापों से जर्जरित, प्रश्न-आश्चर्य-चिन्हों के तीरों से मर्माहत कभी गज-गज़ की लम्बी, कभी दो ही दो अंगुल की' टेढ़ी-मेढ़ी, ऊँची-नीची, मतिहीन, छंदहीन, शब्द-अर्थ-तुक शून्य काली सतरों का चींटियों की टोलियाँ तथा अस्पृश्य काव्य के गुह्यातिगुह्य कच्चे घरौंदे बना, ताड़पत्र, भोजपत्र को छोड़ बहुमूल्य कागज पर मनोहर टाइप से, अनोखे-अनोखे चित्रों की सजधज तथा उत्सव के साथ छपवा कर, जो 'विन्ध्यस्तरेत सागरम्' की चेष्टा कर रहे हैं, यह सरासर इनकी 'हिमाकत', धृष्टता, अहमन्यता, तथा 'हम चुना दीगरे नेस्त' के सिवा और क्या हो सकता है? घटानां मिर्यातुम्ति

भुवन विद्यातुथ्य कलहः।" इत्यादि। परन्तु 'पल्लव' की भूमिका में पंत को व्यंग को छोड़कर स्पष्ट रूप से अपनी बात कहनी पड़ी।

व्रजभाषा और खड़ी बोली में से कौन काव्य-भाषा के उपयुक्त है—यह प्रश्न अब निश्चित रूप से समाप्त हो चुका था। पंत ने कहा: "अब भारत के काव्य ने मुरली छोड़ पांचजन्य उठा लिया, गुरुदेव की सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ी बोली उस जाग्रति की शंखध्वनि है। ब्रजभाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जाग्रति का स्पंदन, उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमद ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्य-व्यग्र प्रकाश।" भक्तसाहित्य की उन्होंने उन्मुक्त कंठ से प्रशंसा की परन्तु वे उसकी सीमा से भी परिचित थे—"अधिकांश भक्तकवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई—"। "भक्ति के स्वर में भारत ने जन्म-जन्मांतर की सुप्त-मूक आसक्ति बाधाविहीन बौछारों में बरसा दी। ईश्वरानुराग की बाँसुरी अंध बिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़कर नचाने लगी।" शृंगारकाव्य का उनके काव्य से सीधा संबंध है। इसके संबंध में उन्होंने लिखा—"वह ब्रज के दूध-दही और माखन से पूर्ण-प्रस्फुटित-यौवना अपनी बाह्य रूप-राशि पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अंतर्जगत के सौन्दर्य के उपभोग करने का अवकाश ही नहीं मिलता; निःसन्देह उसका सौन्दर्य अपूर्व है, भाषातीत है,—यह उस युग का नंदनकानन है जहाँ सौन्दर्य की अप्सरा अपनी ही छवि की प्रभा में स्वच्छंदता पूर्वक विहार करती है। अब हम उस युग का कैलाश देखेंगे जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्वल-कारिणी स्निग्ध चंद्रिका में, संयम की स्थिर दीपशिखा-सी, शुद्ध एवं निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का शत-शत ध्वनि-पूर्ण कल्लोलों में विलोड़ित बाह्य स्वरूप है, यह उसका गंभीर, निर्वाक अन्तस्तल!" खड़ी बोली की नवीन कविता के संबंध में कवि कहता है—"उसमें नये हाथों का प्रयत्न,

जीवित-साँसों का स्पंदन, आधुनिक इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पदचिन्ह, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच—नवीन युग की नवीन सृष्टि का समवेश है। उसमें नये कटाक्ष, नये रोमांच, नये स्वप्न, नया ज्ञान नया रुदन, नया हृत्कंपन, नवीन वसंत, नवीन कोकिलाओं का गान है।"

'पल्लव' की भूमिका को सम्यक् रीति से पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का ध्यान वाह्य उपकरणों पर अधिक है। वह युग के अनुरूप एक नई शब्दावली, एक नई काव्य-भाषा गढ़ना चाहता है, परंतु वह इतने पर ही रुक नहीं जाता। छंदों की काट छाँट, रागानुकूल छंदों का प्रयोग, वार्णिक छंदों की अनुपयोगिता, मुक्त छंद और अन्त्यानुप्रास पर कवि ने विशेष विस्तार से विचार किया है। वास्तव में उसकी कविता के वाह्यांग ने ही जनता का ध्यान इतनी शीघ्रता से आकर्षित किया। परंतु यह भी निश्चित है कि उसने इस भूमिका में और अपने प्रयोगों के द्वारा काव्य की आत्मा में भी परिवर्तन की सूचना दी। जहाँ द्विवेदीयुग की वार्णिकछंद - विजड़ित गद्यात्मक शब्दावली के स्थान पर उसने मात्रिक छंदों के लयतालबद्ध संगीत मे आरोह-अवरोह में उठती-गिरती जीवित-स्पंदित नई शब्द - सुषमा हिंदी को दी, वहाँ उसने रीतिकालीन विलास के स्थान पर लोकोत्तर प्रेम के गीत गाये और नारी के वाह्य सौन्दर्य के स्थान पर हृदय की शोभा से मंडित उसकी कल्याणी-मूर्ति को स्थापना की। जहाँ रीतिकालीन विलासिता की प्रतिक्रिया में द्विवेदी युग की कविता में कथा-कहानियों के सिवा नारी को थोड़ा भी स्वतंत्र स्थान नहीं मिल पाया था, वहाँ 'नारीरूप' शीर्षक कविता में पंत ने पहली बार नारी के महिमामय गौरव का गीत गाया—

> **स्नेहमयि ! सुन्दरतामयि !**
> **तुम्हारे रोम-रोम से नारि !**
> **मुझे है स्नेह अपार;**
> **तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि !**

मुझे है स्वर्गागार !
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता, ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति, पूजन-सम्मान,
अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की संधान ।
स्वप्नमयि ! हे मायामयि !
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ' हास,
सृष्टि के उर की साँस,
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास;
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अंतर्धान,
देवि ! मा ! सहचरि ! प्राण !

(मई, १९२२)

उन दिनों नारी - जागरण के अन्दोलनों का जन्म भी नहीं हुआ था । इससे पंत की प्रगतिशील युगदृष्टि के संबंध में आस्था उत्पन्न होती है । नई कविताओं में तो उन्होंने नारी को ही जीवन-विकास की सबसे बड़ी प्रेरणा माना है । जहाँ द्विवेदीयुग की कविता में प्राकृतिक वर्णन वस्तु-नाम-वर्णन मात्र रह गये थे, वहां पंत ने प्रकृति के चरणों में बैठकर, उसी के हाथ की वीणा पर उसीसे सीखा हुआ गीत गया । पंत से पहले प्रकृति के सबसे रोमांटिक चित्र 'मिलन' और 'पथिक' में मिलेंगे, परंतु पंत की प्राकृतिक कविता की कोटि ही दूसरी है । पर्वत-प्रदेश के इस वर्णन की छटा देखिये—

पावस-ऋतु थी, पर्वत प्रदेश;
पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश !

मेघलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृगसुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार;
--जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !!

गिरि का गौरव गाकर झर झर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों-से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर ।

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकांक्षाओं—से तरुवर
हैं झांक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष-अटल कुछ चिंतापर !

उड़ गया, अचानक, लो भूधर
फड़का अपार पारद के पार !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अंबर !

धँस गये धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल !
--यों जलद-यान में विचर-विचर,
था इन्दु खेलता इन्द्रजाल !

(१६२२)

सच तो यह है कि पंत के द्वारा द्विवेदीयुग के काव्य की जड़ता नष्ट हो गई और हिंदी काव्य ने विकास का नया अध्याय खोला। कविता का बाह्य ही नहीं, आभ्यंतर भी बदल गया और इतना बदला कि आज की

कविता प्राचीन रसवादी कविता से एकदम अलग जा पड़ी है । वह बुद्धिप्रसूत है, परंतु वह बुद्धि को लाञ्छित समझती है ।

जो हो, यह निश्चित है कि 'पल्लव' ( १६२७ ) के प्रकाशन के साथ हिंदी काव्य-जगत में एक महान क्रांति हो गई थी । 'आँसू' (प्रसाद, १६२५), 'पल्लव' ( पंत, २७ ) और 'परिमल' ( निराला, १६३० ) आधुनिक हिंदी कविता के पहले तीन चरण हैं । फिर तो इस वामन ने वह डग भरे कि वह सारे साहित्याकाश को नाप गया ।

'पल्लव' ( १६२७ ) से 'स्वर्णधूलि' ( १६४७ ) तक कवि ने कला, विचार और भावना की न जाने कितनी मंज़िलें पार की हैं ! 'पल्लव' में हमें कल्पनाशील भावुक तरुण कवि के दर्शन होते हैं । वह काव्य का पुरातन रूढ़ियों के प्रति खड्गहस्त है । अभी उसे कविता के बाहरी रूप-रंग के प्रति विशेष मोह है । धीरे-धीरे वह अपने में डूबता है । कल्पना से वह चिंतन और अनुभूति की ओर बढ़ता है । छायावाद की त्रयी ( प्रसाद, पंत, निराला ) में सबसे विविध, सबसे कलापूर्ण और सबसे गंभीर साहित्य पंत का ही है ।

नीचे हम पंत के काव्य के विभिन्न अगों पर अलग-अलग विचार करें गे—

**सौन्दर्य**—पंत के काव्य - व्यक्तित्व में सौन्दर्य - प्रियता का अंग कदाचित् सबसे महत्त्व-पूर्ण है । उनके व्यक्तित्व का यह अंग ही उन्हें नये काव्य का नेतृत्व देने में सबसे आगे रहा है । नारी, प्रकृति, कला और संगीत—सबके प्रति उन्हें सौन्दर्य की भावना ही आकर्षित करती है । बाद में वे अपने सौन्दर्य-प्रेम के कारण उससे स्थायी सबंध स्थापित कर लेते हैं और इनके सम्बन्ध में अत्यन्त उदात्त आदर्शों से प्रेरित होने लगते हैं । परंतु सौन्दर्य-प्रेम उनकी मूल - वृत्ति है, इसमें संदेह नहीं ।

द्विवेदी युग की रचनाओं में सौन्दर्य की उड़ान बहुत ऊँची नहीं थी। कवि के पैर धरती पर ही रहते थे, वह अपने को इसी में सुरक्षित समझता था। वस्तु-स्थिति का वर्णन ही उसके लिए सब कुछ था। इसी से उसके काव्य में वाणी की स्वाभाविक स्फूर्ति नहीं है। सब कुछ जैसे जड़ता-जड़ता हो। कवि की अतिनैतिकता और अति-सतर्कता उसे पग-पग पर बाँधे थी। पन्त ने ये ग्रन्थियाँ छोड़ दीं। उन्होंने सौन्दर्य के समुद्र में इतने ज्वार उठाये कि ऐसा लगा, तूफ़ान आ गया! मूर्त्तिमत्ता पर मूर्त्तिमत्ता, एक कल्पना से सटी हुई दूसरी कल्पना, एक चित्र के साथ दूसरा चित्र। किसी भी विषय पर वे साधारण इतिवृत्त नहीं देते। उनकी भावुकता रुकना जानती ही नहीं। कवि 'नक्षत्र' पर लिख रहा है :—

**अहे अनभ्र गगन के जलकण!**
**ज्योति-बीज! हिम-जल के कण!**
**बीते दिवसों की समाधि हे!**
**प्रातः-विस्मृत स्वप्न सघन!**
**अग्निशस्य! रवि के चिन्हित पग!**
**म्लान दिवस के छिन्न वितान!**
**कह दो हे शशि के प्रिय सहचर!**
**निशानाथ दें दर्शन-दान!**
**ऐ नश्वरता के लघु बुदबुद!**
**कालचक्र के विद्युत-कन!**
**ऐ स्वप्नों के नीरव चुम्बन!**
**तुहिन-दिवस! आकाश-सुमन!**

इसी तरह कवि न जाने क्या-क्या अनर्गल कहता जाता है। नक्षत्रों के सौन्दर्य ने उसकी भावुकता को इतना उत्तेजित कर दिया है कि वह अपनी कल्पना को संयत नहीं रख सकता। परन्तु कहीं २ कवि की तीव्र कल्पना ने

उसे वस्तुओं की आत्मा तक पहुँचने में बड़ी सहायता की है। 'बादल' शीर्षक कविता में कवि की कल्पना बादलों के बड़े सौन्दर्यपूर्ण चित्र नेत्रों के सामने उपस्थित करती है :

विपुल कल्पना - से त्रिभुवन की
विविध रूप धर भर नभ अंक,
हम फिर क्रीड़ा - कौतुक करते,
छा अनन्त - उर में निःशङ्क !
कभी चौकड़ा भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,
मन मतंगज कभी झूमते,
सजग-शशक नभ को चरते;
कभी कीश से अनिल डाल में
नीरवता से मुँह भरते,
बृहत्-गृद्ध से विहग-छदों को
बिखराते नभ में तरते।
कभी अचानक, भूतों का-सा
प्रकटा विकट महा - आकार,
कड़क, कड़क, जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार ;
फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पङ्ख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योतस्ना में,
पकड़ इन्दु के कर - सुकुमार।
अनिल - विलोडित गगन - सिंधु में
प्रलय - बाढ़ से चारों ओर

**उमड़ - उमड़ हम लहराते हैं**
**बरसा उपल, तिमिर घनघोर**

वास्तव में पन्त का अधिकांश सौन्दर्य-चित्रण कल्पना-प्रसूत है। उन्होंने विशेषतयः प्रकृति-सौन्दर्य को अपना विषय बनाया है। प्रकृति के जितने पहलुओं के चित्र उनके काव्य में मिलेंगे उतने अन्यत्र कहीं नहीं मिलेंगे। यही नहीं कि वे केवल छोटे २ स्वप्नों के कवि हों। वे बड़े २ प्रभावशाली चित्र भी उपस्थित कर सकते हैं। 'परिवर्तन' कविता में उन्होंने नाश और बवंडर के बीच में सुन्दरता को देखा है। कवि कहता है—

**एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर**
**समर छेड़ देता निसर्ग – संसृति में निर्भर;**
**भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृंगवर,**
**नष्ट - भ्रष्ट साम्राज्य — भूति के मेघाडंबर !**
**अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू-कंपन,**
**गिर - गिर पड़ते भीत पक्षि-पोतों से उडुगन,**
**आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,**
**मुग्ध भुजंगम – सा इंगित पर करता नर्तन !**
**दिक्-पिंजर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,**
**वाताहत हो गगन**
**आर्त करता गुरु गर्जन !**

अंतिम पंक्तियों प्रकृति का जो विशाल चित्र है, वह सदैव स्पृहणीय रहेगा। भीषण से भीषण भावों को कवि अत्यन्त कुशलता से काव्य का रूप दे देता है। भाव उसे रूपों, रङ्गों, आकृतियों के रूप में ही आते हैं। ऐसे चार चित्र देखिये—

बजा लोहे के दंत कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा लोल;
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोर
फुहुँकता अन्ध रोष फन खोल।
लालची गीधों-से दिनरात
नोचते रोग - शोक नित गात,
अस्थि पिंजर का दैत्य दुकाल
निगल जाता निज बाल!

इन चित्रों में व्यञ्जना की अपार शक्ति है। भाषा का प्रयोग तो इतना सार्थक है कि आश्चर्य होता है। एक-एक शब्द का प्रयोग अत्यन्त कलात्मक रूप में हुआ है।

बाद की रचनाओं में कवि का सौन्दर्य - सम्बन्धी दृष्टिकोण बदला है। 'गुंजन' में कवि कल्पना-चित्रों के अतिरेक से वस्तु के प्रकृत सौन्दर्य को दबा नहीं देता। चित्र-सौन्दर्य की अपेक्षा नाद-सौन्दर्य की ओर उसका ध्यान अधिक है। बसन्त - प्रभात का एक चित्र है—

आज लोहित मधु - प्रात
व्योम - लतिका में छायाकार
खिल रही नवपल्लव - सी लाल,
तुम्हारे मधुर कपोलों पर सुकुमार
लाज का ज्यों मृदु किसलय-जाल!

इसी प्रकार 'अप्सरी' के दिव्य जन-मन-मोहन सौन्दर्य की झाँकी कवि इस तरह दिखलाता है—

नील रेशमी तम का कोमल
खोल लोल कच - भार;

ताल - तरल लहरा लहरांचल,
स्वप्न विकच स्तन हार
शशि - कर-सी लघु पद, सरसी में
करतीं तुम अभिसार,
दुग्ध फेन शारद ज्योत्स्ना में
ज्योत्स्ना - सी सुकुमार।
मेंहदी - युत मृदु करतल - छबि से
कुसुमित सुभग सिंगार,
गौर देहद्युति हिम शिखरों पर
बरस रही साभार—

परन्तु नाद और रूप से उसका आग्रह धीरे - धीरे कम होता जाता है और वह प्रतिदिन के साधारण दृश्यो मे सौन्दर्य की स्थापना की बात सोचता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उसके सौन्दर्य चित्र अधिकतः उसकी विचार-धारा के वाहन बन गये हैं। पलाश उनके लिए नव तारुण्य का प्रतीक है, वह केवल सौन्दर्यपुंज मात्र नहीं। आम्रबन नई संस्कृति का सघन सौन्दर्य बन गया है। अब प्रकृति की स्वस्थ, मांसल छटा ही कवि को नहीं सुहाती, प्रकृति के सभी रूप उसे प्रिय हैं। बसन्त भी, पतझर भी। निर्जन टीले पर खड़े दो चिलबिल के पेड़ो का चित्रण कवि इस प्रकार करता है —

पतझर में सब पत्र गए झर,
नग्न, धवल शाखों पर
पतली, टेढ़ी टहनी अगणित
शिरा-जाल - सी फैलीं गुम्फित,
तरुओं की रेखा - छवि कंपित
भू पर कर छायांकित !

नील निरभ्र गगन पर
चित्रित-से दो तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर,
मन को सुखकर !

(दो चित्र)

कहीं २ उसका वर्णन एकदम वस्तुवादी हो जाता है। वस्तुसंसार की एक एक वस्तु को कवि बड़ी सजगता से अपने चित्रपट पर उतारता है। इस प्रकार के चित्रण में कला और सौन्दर्य का अपना अलग ही रूप है —

गुन के बल चल रही प्रतनु नौका चढ़ाव पर,
बदल रहे तट - दृश्य चित्रपट पर ज्यों सुन्दर।
वह जल से सट कर उड़ते हैं चटुल पनेवा,
इन पंखों की परियों को चाहिए न खेवा !
दमक रही उजियारी छाती, करछाँहे पर,
श्याम घनों से झलक रही बिजली क्षण क्षण पर !
उधर कगारे पर अटका है पीपल तरुवर
लम्बी, टेढ़ी जड़ें जटा - सी छितरी, बाहर।
लोट रहा सामने सूस पनडुब्बी - सा तिर,
पूँछ मार जल से चमकीली करवट खा फिर।
सोन कोक के जोड़े बालू के चाँदों पर
चोंचों से सहला कर, क्रीड़ा करते सुखकर।

(दिवा-स्वप्न)

कवि में जो परिवर्तन हुआ है, वह स्पष्ट है। वह कल्पना के ताजमहल से नीचे उतर कर जीवन के समतल पर आ गया है। अपनी अभिजात्य-प्रवृत्ति के कारण वह गांवों की प्रकृति और जनजीवन के सौन्दर्य के अंतरतम प्रदेश

पहुँच नहीं पाता परन्तु वह जितनी दूर गया है उसका श्रेय तो उसे मिलना ही चाहिये। असाढ़ की संध्या, गुलदावदी के फूलों की सुन्दर गंध और आँगन में खिले हुए दूर्वा-कुसुम सब से उसे अन्यतम सहानुभूति है। परन्तु कहीं कहीं पुराने दिवास्वप्न के क्षण फिर जाग जाते हैं। अत्यंत यथार्थवादी प्रकृतिचित्रण करते हुए कभी-कभी कवि सौन्दर्य की चिरव्यापकता और मनमोहकता के रहस्य से भर जाता है। 'खिड़की से' कविता में कवि अपनी खिड़की में से गंगा-तट को देखता हुआ न जाने क्या-क्या चित्रित कर रहा है, परन्तु सहसा वह ठहर जाता है, 'गुंजन' की सौन्दर्य - भावना एक बार फिर उस पर छा जाती है। वह कह उठता है—

> ज्योत्स्ना में विकसित सहस्रदल भू पर, अंबर
> शोभित ज्यों लावण्य स्वप्न अपलक नयनों पर!
> यह प्रतिदिन का दृश्य नहीं, छल से वातायन
> आज खुल गया अप्सरियों के जग में मोहन!
> चिर-परिचित माया - बल से बन गए अपरिचित,
> निखिल वास्तविक जगत कल्पना से ज्यों चित्रित!
> आज असुन्दरता, कुरूपता भव से ओझल,
> सब कुछ सुन्दर ही सुन्दर, उज्ज्वल ही उज्ज्वल!

नई कविताओं में कवि प्रकृति को सारे विश्व - जीवन के साथ मिला कर देखने लगा है। वह प्रकृति के माध्यम से एक नई संस्कृति, एक नई विचार-धारा देना चाहता है। अब प्रकृति - सौन्दर्य केवल - सौन्दर्य मात्र नहीं है। कवि वर्णच्छटा से इतना प्रभावित नहीं है जितनी अपनी विचार—भूमि से। वर्षा का चित्रण वह इस तरह करता है —

> वर्षा आई, धूम्र-नील नभ में छाया घन - घर्षण,
> तीव्र लालसा तड़ित जगी सोई कर गर्जन-तर्जन!

**मधु मरंद से रञ्जित भू का गर्भ हुआ फिर उर्वर
नव प्रवाल प्रज्वलित तरु क्षितिज-बना गाढ़ श्यामलतर !
नृत्य-तरङ्गित हुए स्रोत नव, गए प्ररोह नवल भर,
सृजन शक्ति ने अणु - अणु में ज्यों लगा दिए जीवन-पर !
प्रणय-गीत और जनन-स्वरों से मुखरित हुआ दिगंतर,
जीवन की रिमझिम अजस्र रे संसृति की सावन झर !**

यहाँ प्रकृति, जीवन और कवि का मनःतत्व एक बन गया है। 'प्रकृति' के सौन्दर्य को कवि अवचेतन मन के अनेक रूपको में बाँधना चाहता है। जड़-जीवन को अब वह 'मनोभास' मानता है। इस प्रकार वाह्य सौन्दर्य अंतर्मन की सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति मात्र रह जाता है।

जो हो, यह निश्चित है कि सौन्दर्य कवि की सबसे प्रमुख मौलिक वृत्ति है। केवल चित्रांकन में ही नहीं, भाव, नाद, सगीत, छन्द सब में उसने व्यापक रूप से सौन्दर्य की साधना की है। भाषा के क्षेत्र मे तो उसकी यह सौन्दय-साधना हिंदी के लिए सबसे बड़ा वरदान रही है। कवि ने अपने प्राणों के रस से सीच कर न जाने कितने दुर्बोध परन्तु भाव-व्यञ्जक संस्कृत के शब्दों को हिन्दी बना दिया है। न जाने संस्कृत के कितने मांत्रिक वृत्त पन्त के कवि-कौशल की छेनी से कट-सँवर कर इतने सुघर बन गये है कि हृदय मोहित हो जाता है। सौन्दर्य की इतनी एकनिष्ठ साधना का इतना बड़ा उदाहरण आधुनिक काव्य के किसी कवि में मिलना कठिन है

पंत प्रधानतयः प्रकृति - सौन्दर्य और संगीत के कवि हैं। जीव-ब्रह्म **रहस्यवाद** के पचड़े में वह बहुत नहीं पड़े, यद्यपि उनका दर्शनशास्त्र का अध्ययन गहरा है और उनकी उपमा-उत्प्रेक्षाओ पर भी उनकी दार्शनिक चितनाओं की छाप पड़ी है।

'वीणा' और 'पल्लव' में हमें पंत की कुछ ऐसी रचनाओं के दर्शन होते हैं जिन्हें हम कुछ दूर तक 'रहस्यवादी' कह सकते हैं। उनके इस

रहस्यवाद के कई पक्ष हैं। या तो वे विवेकानन्द की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर बंगला के जननीवाद (Mother-cult) को हिंदी में ले आते हैं जैसे—

> १ करुणा-क्रंदन करने दो
> अविरल स्नेह-अश्रु जल से माँ !
> मुझको मति-मल धोने दो
> २ तुहिन बिन्दु बन कर सुन्दर
> कुमुद - किरण से सहज उतर
> माँ, तेरे प्रिय पद-पद्मों में
> अर्पण जीवन को कर दूँ

या विश्व मे एक महान शक्तिशाली मातृत्व की कल्पना करते हुए वे कहते हैं—

> माँ ! वह दिन कब आयेगा जब
> मैं तेरी छबि देखूँगी
> जिसका यह प्रतिबिंब पड़ा है
> जग के निर्मल दर्पण में

यह 'मा' की कल्पना अद्वैतियों के ब्रह्म की कल्पना से भिन्न नही है। इस सृष्टि के सारे रहस्यों के पीछे वही एक शक्ति है जिसे जान कर ही हम सब जान पाते हैं—

> वैसे ही तेरा संसार
> अति अपार यह पारावार
> नहीं खोलता है माँ ! अपने
> अद्भुत रत्नों का भण्डार,

प्रत्युत, अपने ही शृङ्गार
( तुलसी - माला या मणिहार )
माँ ! प्रतिबिंबित होकर इसमें
दिखलाई देते निस्सार !
चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
इसके जल को हिला अपार
दिखलाई देगी तब इसकी
विश्वमूर्ति अति सदय उदार !

यह संसार इसी मा (शक्ति) का प्रतिबिंब है—

माँ ! वह दिन कब आयेगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिंब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पण में

परन्तु पंत के रहस्यवाद का एक अंग प्राकृत रहस्यवाद भी है। वह प्रकृति के वैभव से बालक की भाँति आश्चर्यचकित हैं और उसके पीछे एक जीवित, जाग्रत, स्पंदित, अतीन्द्रिय सत्ता की कल्पना करते हैं—

छवि की चपल अँगुलियों से छू
मेरी हृत्तंत्री के तार
कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुंजार !

इस विश्व के सायं-प्रात कवि को अतीव रहस्यमय दिखलाई पड़ते हैं। उसे लगता है जैसे यह सारा प्राकृतिक वैभव, यह सारा आकर्षण एकमात्र उसी के लिए है—

**कनक छाया में, जब कि सकाल**
**खोलती कलिका उर के द्वार,**
**सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल**
**तड़प बन जाते हैं गुंजार;**
**न जाने ढुलक ओस में कौन**
**खींच लेता मेरे दृग मौन**

यह जीवन स्वयं उसे एक रहस्यमय उलझन लगता है—

**अरे विश्व ! ऐ विश्व-व्यथित-मन ।**
**किधर बह रहा है यह जीवन ?**
**यह लघु-पोत, पात, दृग, रजकण,**
**अस्थिर भीरु वितान,**
**किधर, किस ओर, अछोर, अजान**
**डोलता है यह जीवन-यान**

'गुंजन' की कविताओं में यह रहस्य भावना और भी गहरी हो गई है परंतु उसने दार्शनिकता का रूप ग्रहण कर लिया है। यह संसार उसे एक रहस्यमय इच्छा के सूत्र पर कठपुतली की तरह नाचता दिखलाई देता है—

**अविरत इच्छा ही में नर्तन**
**करते अबाध रवि, शशि, उडुगण**
**दुस्तर आकांक्षा का बंधन**

इस इच्छा के बंधन से छुटकारा मिलना तभी संभव है जब मनुष्य सुख-दुख से ऊपर उठ कर शाश्वत जीवन के साथ अपने जीवन को एकात्म कर दे। कवि कहता है—

अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य, चिरंतन
सुख-दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलंबन

वह जीवन के कर्णधार से प्रार्थना करता है कि शाश्वत जीवन के अगाध समुद्र में नौका-विहार कर सके—

हे जगजीवन के कर्णधार,
चिर जन्म-मरण के आर पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार

अंत में वह साधना के पथ को पकड़ता है परन्तु यह साधना केवल सक्रिय भाव से प्रकृति और जीवन के साथ एकात्म हो जाना है। यह बुद्बुद की तरह जल में लीन होकर जल का रहस्य पाना है—

कँप-कँप हिलोर रह जाती
रे मिलता नहीं किनारा
बुद्बुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा

जिस कवि ने 'पल्लव' में परिवर्तन की अत्यंत रहस्यवादी कल्पना की थी—

अहे महाम्बुधि! लहरों से शत लोक चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर,
तुङ्ग तरङ्गों से शत युग, शतशत कल्पांतर,
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर,
शत सहस्र रवि-शशि असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण

जलते-बुझते हैं स्फुलिंग से तुममें तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन, मन
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तनहीन विवर्तन

वही कवि 'गुंजन' में आकर इस परिवर्तन के पीछे की एक शाश्वत, निःस्पृह, निर्विकार सत्ता की अनुभूति प्राप्त करता है। 'ज्योत्स्ना' का एक गीत है—

चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय
चिन्मय प्रकाश में विकसित लय

× × ×

चिर महानंद के पुलकों से
झर-झर नित अगणित लोक-नियम
नाचते शून्य में समुल्लसित
बन शत-शत सौर-चक्र निर्मम

इस चिन्मय प्रकाश के महान सागर में मनुष्य की सत्ता लहरों की भाँति है। जिस प्रकार जल के स्पंदन मात्र से लहर का अस्तित्व है, उसी प्रकार यह मानव-जीवन इस विराट चिन्मय प्रकाश-सागर की हिल्लोल-मात्र है— जाने किस निरावधि, निरालस अतीत में यह हिलोल उठी थी, न जाने किस अनागत भविष्य में यह फिर उसी प्रकाशपुंज में लय हो जायगी। बार-बार 'अस्ति' और 'नास्ति' का यह खेल ही अनादि काल से मनुष्य की जिज्ञासा और रहस्य का विषय रहा है—

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल,

**चिर जन्म-मरण को हँस-हँस कर**
**हम आलिंगन करतीं पल-पल**
**फिर-फिर असीम से उठ-उठ कर**
**फिर-फिर असीम में हो ओझल**

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काव्य में रहस्यवाद की धारा ने एक नया ही रूप ग्रहण कर लिया है। उसमें जीव-ब्रह्म के अनन्य संबंध मात्र की जिज्ञासा और अनुभूति ही नहीं है, उसमें आश्चर्य, आनंद, रहस्यमयता के अनेक सूत्र फैले हुए हैं जो जावन, प्रकृति और चेतनता से अनेक प्रकार से संबंधित किये गये हैं। पंत की कविता में जीव-ब्रह्म की उस प्रकार की जिज्ञासा नहीं मिलेगी जो निराला, महादेवी और रामकुमार के काव्य का विषय है। उनके रहस्यवाद की भित्ति है एक व्यापक आश्चर्य और रहस्य की भावना ( Spirit of Wonder ) जो उनके काव्य में ओत-प्रोत है। प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य, बालक और छोटे-बड़े जीवो को एक विशेष आश्चर्य और रहस्य की दृष्टि से कवि ने देखा है। जहाँ तक हो सका है, उसने इनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहा है। वह इसमें सफल भी हुआ है। इसी विराट आश्चर्य-भावना ने पंत के काव्य के वर्णन विषयों को महत्ता प्रदान की है। कवि संसार की जिस वस्तु को छूता है, वह नये प्रकाश और नई छाया से ढ़क जाती है। यह जगत और जीवन कवि के लिए सहस्रशः आश्चर्यों का भांडार है। वह कहता है—

**गुँथ गये अजान तिमिर-प्रकाश**
**दे दे जगजीवन को विकास,**
**बहु रूप-रंग-रेखाओं में**
**भर बिरह-मिलन का अश्रु-हास**

उसका हृदय एक महान मंगल-कामना से भर जाता है। विश्व की अपूर्णताएं उसे खलने लगती हैं। वह गा उठता है—

छवि के नव बंधन बाँधो
भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गंध कुसुम में, स्मिति अधरों में,
जीवन की तमिस्र वेणी में
निज प्रकाश-कन बाँधो

सारे जीवन के प्रति ही वह मंगलाशी है—

मंगल चिर मंगल हो !
मंगलमय सचराचर
मंगलमय दिशि-पल हो !
तमस-मूढ़ हों भास्वर,
पतित-क्षुद्र, उच्च प्रवर,
मृत्यु-भीत नित्य अमर
अग-जग चिर उज्ज्वल हो !

संसार की अपूर्णता के ऊपर वह एक महान सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पूर्णता का संदेश देता है—

मानव-जग में गिरि कारा-सी
गत युग की संस्कृतियाँ दुर्धर
बंदी की हैं मानवता को
रच देश-जाति की भित्ति अमर;
ये डूबेंगी—सब डूबेंगी
पा नव मानवता का विकास,
हँस देगा स्वर्णिम वज्र-लौह
छू मानव-आत्मा का प्रकाश !

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत के काव्य में रहस्यवाद के अर्थों का विकास हुआ है और जीवन, जगत और उसमें व्याप्त चिन्मय शक्ति को नए प्रकार से देखने की दृष्टि हमें मिली है। उसकी अनेक गुत्थियाँ और अभिव्यंजना की अस्पष्टताएँ उनके काव्य में नहीं हैं। कवि के लिए सौन्दर्य की साधना विराट अनन्त से तादात्म्य प्राप्त करने की एक मात्र साधना रह गई है। कण-कण में व्याप्त सौन्दर्य ही उसके लिए प्रियतम का पदचिह्न है।

परन्तु अपने नये काव्य में पंत ने एक नई प्रकार की रहस्यवादिता भर दी। यह है उपचेतन का रहस्यवाद। कवि का विचार है कि प्रकृति, मनुष्य और सृष्टि के मूल में एक रहस्यमय उपचेतन काम कर रहा है। वस्तुतः चेतन और उपचेतन में कोई भेद नहीं है। उपचेतन मन ही कालांतर में चेतन मन का रूप धारण कर लेता है। परन्तु मनुष्य के जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उपचेतन मन को उसकी भ्रांतियों से दूर किया जाये और वह बन्धन-मुक्त हो नये-नये स्वर्गों की सृष्टि कर सके। कवि का यह 'चेतनावाद' एक नए प्रकार का रहस्यवाद ही है क्योंकि उपचेतन की सारी प्रवृत्तियाँ गोपन मन के भीतर चला करती हैं। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्णधूलि' में कवि ने अपने इस चेतनावाद की अनेक प्रकार से व्याख्या की है और उसे एक नए दर्शन का रूप देना चाहा है। वह कहता है :

सुप्त चेतना निर्झर भव में<br>
शाश्वत अमृत कर रहे वर्षण,<br>
स्फुरित दीप्त लोकों से भासित<br>
स्वर्गंगा स्मित उर-पथ गोपन।<br>
सृजन शक्तियों से चिर ज्योतित<br>
अंतर्मन का दिव्य चिद् गगन,<br>
बहिर्जगत रंजित चेतन मन<br>
मात्र चित्र छाया अवगुंठन।

इस प्रकार वह एक सतत प्रगतिशील, सतत ऊर्ध्वगामी रहस्यमयी चेतना की कल्पना करता है जो अंतर्मन और बहिर्जगत का समान रूप से नियमन कर रही है।

**कला** 'छायावाद' काव्य को हम एक प्रकार से कलात्मक आंदोलन का रूप भी दे सकते हैं। आधुनिक कविता के पहले ३० वर्ष (१८८५-१९१४) भाषा-परिष्कार और पदावली की शुद्धता में लगे। इन क्षेत्रों में जो काम इस समय हुआ उससे अधिक होना नितांत असंभव था। द्विवेदी जी ने काव्य के क्षेत्र में पहली बार शुद्ध, सरल और सुष्ठ खड़ी बोली का प्रवर्तन किया और बहुत दिनों तक भाषा की शुद्धता, सरलता और उसका सौष्ठव यही काव्य के गुण माने जाने लगे। भाषा और पदावली का अत्यन्त शुष्क, अत्यन्त व्यावहारिक रूप काव्य के क्षेत्र में भी प्रतिष्ठित हो गया था। गद्य और पद्य की भाषा-शैली में कोई अंतर नहीं समझा जाता था। फलतः कवि को कलात्मक प्रयोग करने की कोई भी प्रेरणा नहीं थी। वह यथातथ्य लिख कर अपने को सफल मानता था। उसके विषय भी ऐसे थे जो उसे ऐसे कला-प्रयोगों से रोकते भी थे। पौराणिक गाथा, नीति के उपदेश या प्रकृति के इतिवृत्तात्मक वर्णन ऐसी चीजे नहीं हैं जो कवि को नये-नये प्रयोगों की प्रेरणा दें। परन्तु नए तरुण कवियों ने विषय का प्रसार किया और कई नए विषय हिंदी भारती के कठहार बन गये। यही नहीं जीवन के सारे तत्त्वों की ओर देखने का कवि का विद्रोह भी सफल हुआ। नई दृष्टि, नई प्रेरणा। कवि ने अपनी अनुभूति को सारे पाठकों के लिए सुलभ करने की चेष्टा भी। ज्ञान का प्रश्न नहीं था, अनुभूति का प्रश्न था। कवि अपनी अनुभूति को सच्चे से सच्चे रूप में प्रकाशित करना चाहता था। यहीं से उसके काव्य में कला का प्रवेश हुआ। यह कला मुख्यतः शब्द-योजना और छदों के निर्माण में प्रगट हुई।

'उच्छ्वास' और 'आँसू' जैसी प्रारम्भिक रचनाओं में ही कला के प्रति पंत का आग्रह मुखर हो उठता है। 'उच्छ्वास' की पहली पक्तियों से ही यह

स्पष्ट हो जाता है कि कवि छंद के क्षेत्र में बड़ी स्वतंत्रता से काम लेना चाहता है :

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल-बादल-सा उठकर आज
सरल अस्फुट उच्छ्वास !
अपने छाया के पंखों में
(नीरव घोष भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूँथ, फैल गंभीर मेघ-सा
आच्छादित कर ले सारा आकाश !
यह अमूल्य मोती का साज,
इन सुवर्णमय, सरस परों में
(शुचि स्वभाव से भरे सरों में)
तुझको पहना जगत देख ले—यह स्वर्गीय प्रकाश !
मंद, विद्युत-सा हँसकर
वज्र-सा उर में धँस कर,
गरज, गगन के गान ! गरज गंभीर स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में, औ' अधरों में,
बरस धरा में, बरस सरित्, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में !

इन पंक्तियों में कई छंदों के चरणों को एक साथ गूँथ दिया गया है। कवि केवल लय-साम्य ढूँढ़ लेता है। शेष के लिए वह अपने को स्वतन्त्र समझता है। छंद के कलात्मक प्रयोग के सम्बन्ध में पंत के अपने कुछ निश्चित सिद्धांत हैं :

१—वह विशेष छंदों को विशेष रसों से सम्बन्धित कर देते हैं : 'भिन्न२ छंदों की भिन्न-भिन्न गति होती है, और तदनुसार वे रस-विशेष की सृष्टि करने में भी सहायता देते हैं' ('पल्लव' की भूमिका, पृ० ३५)। उनका रसानुकूल छंदों का वर्गीकरण कुछ इस प्रकार है:

करुणा रस-वैतालीय, मालिनी, पीयूष-वर्षण,
रूपमाला, सखी, प्लवङ्गम, हरिगीतिका
शृंगार - राधिका
वात्सल्य (बालक्रीड़ा)—चौपाई, अरिल्ल
वीर—रोला

२—एक ही छंद के चरणों की मात्रा घटा-बढ़ा कर वर्णित विषय के प्रभाव का विस्तार किया जा सकता है। छंद में इस परिवर्तन के कारण हैं :

(क) बीच-बीच में छंद की एकरसता को तोड़ना।
(ख) भावाभिव्यक्ति की सुविधा

इस विषय को उदाहरण-द्वारा समझाता हुआ कवि कहता है : "यथा—

**'विभव की विद्युत-ज्वाल**
**चमक, छिप जाती है तत्काल।'**

ऊपर के चरण में चार मात्राएँ घटा कर उसकी गति मंद कर देने से नीचे के चरण का प्रभाव बढ़ जाता है।

यदि ऊपर के चरण में चार मात्राएँ जोड़ कर उसे **"विभव की चंचल विद्युत ज्वाल"**—इस प्रकार पढ़ा जाय, तो नीचे के चरण में विभव की क्षणिक छटा का चमक कर छिप जाने के भाव का स्वाभाविक स्फुरण मंद पड़ जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भावनानुसार छन्दों की काट-छाँट कर दी गई है।' 'आँसू' में कहीं-कहीं एक ही छंद के चरणों में अधिक काट-छाँट हुई है। यथा—

"देखता हूँ जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को,
नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिंग रुक कर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता-सी, प्राण !
कहीं तब करती मृदु-आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात !'

इन चरणों में शोकाकुलता के कारण स्वरभंग हो जाने का भाव आया है; लय की गति रुकती जाती है, तुक भी पास-पास नहीं आये हैं। इसी प्रकार "सिहर उठता कृश गात" इस चरण की गति को कुंठित कर देने से अनुवर्ती चरण में पगों के अज्ञात ठहर जाने का भाव अपने आप प्रकट हो जाता है। अन्यत्र भी—

"पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल चलती है दृग जलधार" इन लाइनों में प्रथम चरण के बाद जो विराम मिलता, उससे प्राणों के पिघला पड़ने तथा द्वितीय चरण में आँसुओं के उबल चलने का भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है।—' छंद के प्रसार और संकोच के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना बहुत कुछ भावात्मक है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि छंद-विषयक अपनी सहज अनुभूति के बल पर पंत ने बहुत सुन्दर काव्य हिंदी को दिया है। उनकी कला के पीछे

वैज्ञानिक दृष्टि भले ही न हो, इसमें संदेह नहीं, वह अर्थ की अभिव्यंजना में पूर्णतः समर्थ है।

३—कविता के विभिन्न भागों में विषय और प्रभाव की योजना के अनुकूल अलग-अलग छंदों का प्रयोग किया जाता है। 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में भी छन्द इसी प्रकार बदले गये और आवश्यकतानुसार राग को विश्राम भी दे दिया गया है। यथा—

**"शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय"** के बाद

**"बालिका ही थी वह भी"**—इस चरण में वाणी को विश्राय मिल जाता, तब नया छंद—

**"सरलपन ही था उसका मन**

**निरालापन था आभूषण"** इत्यादि प्रारम्भ होता है। उसी प्रकार

**"सुमनदल चुन-चुन कर निशि-भोर**

**खोजना है अजान वह छोर"**— इस सोलह मात्रा के छंद की गति को **"नवल कलिका थी वह"** वाले चरण में विराम देकर तब—

**उसके उस सरलपने से**

**मैंने था हृदय सजाया"**—यह चौदह मात्रा का छंद रक्खा है, इसकी गति पूर्ववर्ती छंद की गति से मंद है। जहाँ समगति के भिन्न २ छंद आये हैं वहाँ विराम देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमें निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वत का सहसा बादलों के बीच ओझल हो जाना आदि, अद्भुत रस का मिश्रण है। इसलिए वहाँ पूर्वोक्त शिथिल गति-वाले छंद के बाद तुरन्त ही

**"पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश"**

**पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश"** — यह क्षिप्रगामी छंद मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़ा। इस छंद का सारा वेग—**"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर"** — यह विस्तृत चरण रोक देता, और

**"सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही**
**बालिका मेरी मनोरम मित्र थी"**

सुख-दुःख-मिश्रित भावना को ग्रहण करने के लिए हृदय को तैयार कर देता है।"

इस प्रकार के मिश्रित छंदों की कविता को ही पंत ने स्वच्छद छन्द कहा है। यह भी निराला के मुक्त छन्द की तरह लयात्मक है, परन्तु जहाँ निराला के मुक्त छंद में केवल कवित्त छन्द को कविता का आधार बनाया गया है और तुकांत को कोई स्थान नहीं मिला है, वहाँ स्वच्छद छंद में अनेक छंदों को कथानुसार एक सूत्र में गूँथ दिया गया है। उसमें सुविधानुसार तुक को भी स्थान मिला है। वास्तव में इस स्वच्छंद छंद में मुक्तक छंद से कहीं अधिक कलात्मकता है। जहाँ मुक्त छंद केवल ओज और लय के आधार पर चलता है, वहाँ स्वच्छंद छंद में संगीत-माधुरी को पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। यह स्वच्छंद छंद छंद के क्षेत्र में पत की सबसे क्रांतिकारी वस्तु है। वैसे उन्होंने अनेक छन्दों के बड़े सुन्दर और कलात्मक प्रयोग किये हैं, परन्तु निराला की तरह उन्होंने छन्दों को तोड़ा-फोड़ा नहीं है। उनका विद्रोह अत्यन्त संयत और निर्माणात्मक है। अपने परवर्ती काव्य में भी उन्होंने भावानुकूल नई-नई छन्द-पद्धतियों का प्रयोग किया है :

**चींटी को देखा?**
**वह सरल विरल, काली रेखा**

तम के धागे-सी जो हिल-डुल
चलती लघुपद पल-पल मिल-जुल
वह है पिपीलिका-पाँति !
देखो ना, किस भाँति
काम करती वह सतत ?
कन-कन कनके चुनती अविरत !
गाय चराती,
धूप [illegible]
बच्चों की निगरानी करती,
लड़ती, अरि से तनिक न डरती

इस प्रकार की स्वतन्त्रता उन्होंने छन्दों से जगह-जगह ली है, परन्तु उनकी यह स्वतन्त्रता मन में हलचल नहीं उठाती। उनके अधिकांश नये छन्द भाव के विकास के सहारे ही चलते हैं। धरती की गौरव-गरिमा को चित्रित करते हुए कवि किस क्षिप्रगति से चलता है —

देखो भू को।
जीव-प्रभू को !
हरित-भरित
पल्लवित मर्मरित
कूजित गुंजित
कुसुमित
भू को !
कोमल
चंचल
शाद्वल
अंचल;—

कल कल
छल छल
चल-जल-निर्मल,—
कुसुम-खचित
मारुत-सुरभित
खगकुल कूजित
प्रिय पशु मुखरित—
जिस पर अंकित
सुर-नर-वंदित
मानव-पदतल !

छोटे-छोटे इस प्रकार के छन्दों से लेकर 'परिवर्तन' के हिल्लोल-छंद तक पंत ने हिंदी को दिये हैं और सभी छन्दों में वे आश्चर्यजनक रीति से सफल रहे हैं। यह उनके लिए कम श्रेय की बात नहीं है। उन्होंने वार्णिक छन्द को हिंदी की प्रतिभा के विरुद्ध बता कर केवल मात्रिक छन्दों को अपनाया है। छन्द में चित्रोपमता और कोमलता लाने के लिए उन्होने अनेक प्रयोग किये हैं। 'ज्योत्स्ना' के गीत जहाँ उनकी गीतिकला का श्रेष्ठ उदाहरण हैं वहाँ 'ग्राम्या' की कविताएँ उनकी पौरुष भरी चुनौती है। 'ज्योत्स्ना' का यह गीत देखिये :—

कुंद धवल, तुहिन तरल,
तारा-दल, ए—
तारक चल हिम जल पल
नील गगन विकसित दल
नीलोत्पल, ए (हम)—

नृत्य-निरत सकल सतत,
रवि, शशि, उडु, ग्रह, अविरत
पुलकित अणु-अणु गति-रत
प्रेम-विकल, ए (हम)—

इस गीत में शब्द - संगीत और छन्द - संगीत का इतना सामजस्य है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना करना ही असम्भव है । इस तरह की छंद और संगीत की आदर्श सगति पंत के अनेक गीतों में मिलेगी ।

परतु छंद से भी अधिक पत की प्रतिमा का विकास शब्द-स्थापना के क्षेत्र में हुआ है । उनका एक-एक शब्द एक-एक मूर्त्त चित्र को व्यक्त करता है । शब्दों के चुनाव और उनकी चित्रांकन शक्ति के विकास से उनकी कला अपूर्व है । वातावरण, भावभंगिमा, गति और स्थिर सौन्दर्य का उन्होंने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है । 'अप्सरी' का चित्र देखिये :

नग्न देह में नव रँग सुर-धनु
छाया-पट सुकुमार,
खोंस नील नभ की वेणी में
इंदु कुंद-द्युति स्फार !
स्वर्गंगा में जल - विहार जब
करतीं, बाहु मृणाल !
पकड़ पैरते इन्दु-बिंब के
शत-शत रजत मृणाल,
उड़-उड़ नभ में शुभ्र फेन - कण
बन जाते उड़-बाल,

**सजल देह-द्युति चल-लहर**
**बिम्बित सरसिज माल !**

नील जलाशय में तैरते हुए स्वर्ग के सौन्दर्य का कैसा रमणीक चित्र है। इसी तरह सुहाग के पहले मृदुल क्षणों को इन पंक्तियों में कवि ने किस सतर्कता से गूँथ दिया है :

**अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !**
**विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात,**
**सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,**
**जड़ित पद, नमित पलक दृग् पात;**
**पास जब आ न सकोगी, प्राण !**
**मधुरता में सो भरी अजान;**
**लाज की छुई-मुई सी म्लान,**
**प्रिये, प्राणों की प्राण !**

इन पंक्तियों में रवि बाबू की 'उर्वशी' की छाया स्पष्ट है। 'द्विधाये जड़ित पदे कंप्र वक्षे नम्र नेत्रपाते'—उर्वशी की यह पंक्ति ही 'जड़ित पद, नमित पलक दृक् पात' बन गई है परंतु इसमें सन्देह नहीं कि पंत ने इस सौन्दर्य में अपनी ओर से भी बहुत कुछ जोड़ा है। अनुभूति को इतना चित्रमय रूप दे देना साधारण कवि-प्रतिभा काम नहीं है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि कवि की प्रतिभा असाधारण है। म्लानमुखा, लज्जावगुंठिता, ज्ञातयौवना नायिका का चित्र आँखों के आगे सजीव हो उठता है। यही नहीं, कवि के साधारण वर्णन भी उसकी चित्रांकन-शक्ति से स्फूर्ति या सजीव हो उठते हैं। प्रत्येक शब्द एक नये सौन्दर्य का उद्‌घाटन करता हुआ सामने आता है और साधारण दृश्य भी नई छवि, नए भाव, नए सौन्दर्य, नए नाद से प्रदीप्त हो उठता है। 'नौकाविहार' की ये पंक्तियां लीजिये :—

नौका से उठती जल हिलोर,
हिल उठते नभ के ओर-छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अंतस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल,
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल,
लहरों के घूंघट से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक मुख
दिखलाता मुग्धा सा रुक-रुक।

इन पंक्तियों में कवि ने प्रकृति के किसी ऐसे दृश्य का वर्णन नहीं किया जो अद्भुत और असाधारण हो। परन्तु उसकी भावभंगिमा कुछ ऐसी है, कुछ इस प्रकार का सौन्दर्य उसने इन पंक्तियों में भर दिया है कि यह साधारण दृश्य भी असाधारण माधुरी से परिवेष्ठित हो जाता है। सच तो यह है कि कवि शब्दों के सार्थक प्रयोग में इतना पटु है कि उसे किसी भी भाव, सौन्दर्य के किसी भी चित्र, मानव-स्वभाव के किसी भी पक्ष को पूर्णतः पकड़ते हुए जरा भी देर नहीं लगती। साँझ का एक चित्र :—

चित्रित विटप-पांति
लहराई सांध्य-क्षितिज पर,
जिससे सट कर
नील धूम्र-रेखा ज्यों खिंची समांतर।
वह पुच्छ-से जलद-पंख
अंबर में बिखरे सुन्दर

रंग रंग की हलकी गहरी
छायाएँ छिटका कर !
सबसे ऊपर निर्जन नभ में,
अपलक संध्या तारा,
नीरद औ' निःसंग,
खोजता-सा कुछ, चिर पथ-हारा ।

शब्दों का यह संयम, यह सौन्दर्य, यह नादसाम्य इस रेखा-चित्र को प्राणवान बना देता है । शब्दों के इस कलात्मक प्रयोग के प्रति कवि का आग्रह 'पल्लव'—काल में ही रहा । 'पल्लव' की भूमिका में उसने लिखा है—'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें; जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों; जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके; जिनका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठ कर हृदयाकाश में समा जाये, जिसका रस मदिरा की फेन-राशि की तरह अपने प्याले से बाहर उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, छत्ते में न समा कर मधु की तरह टपकने लगे; अर्धनिशीथ की तारावलि की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन जड़ता के अंधकार को भेदकर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे'... इत्यादि । इस अवतरण में भाषा की चित्रांकन शक्ति, उसकी संगीतमयता, उसकी दीप्ति, उसकी अर्थ-व्यञ्जना शक्ति को प्रमुखता दी गई है । वास्तव में पंत की शब्दों की परख बड़ी निराली है । वह अपनी स्वाभाविक कवि-प्रतिभा के सहारे ही शब्दों की आत्मा का स्पर्श कर लेते हैं । उन्होंने सैकड़ों संस्कृत शब्दों को हिन्दी की सम्पत्ति बनाया है और

न जाने कितने तद्भव शब्द उनके कलापूर्ण स्पर्श के कारण आज हमारे काव्य में संभ्रांत स्थान प्राप्त किये होंगे। शब्दों की इतनी सुन्दर भावात्मक पकड़ किसी भी आधुनिक कवि में नहीं मिलेगी। यह बात नहीं कि कवि सरल भाषा लिख ही नहीं सकता, परन्तु उसकी उस भाषा में भी अपना व्यक्तित्व रहता है। सावन का वर्णन कवि इस प्रकार करता है :

**झम झम झम झम मेघ बरसते हैं सावन के**
**छम छम छम गिरतीं बूँदें तरुओं में छन के!**
**चम चम बिजली चमक रही रे उर में घन के**
**थम थम दिन के तम में सपने उगाते मन के!**
**ऐसे पागल बादल बरसे नहीं धरा पर,**
**जल-फुहार बौछारें धारें गिरतीं झर झर!**
**आँधी हर हर करती, दल मर्मर, तरु चर चर,**
**दिन रजनी औ' पाख बिना तारे शशि दिनकर!**
**पंखों से रे, फैले-फैले ताड़ों के दल,**
**लंबी-लंबी अंगुलियां है, चौड़े करतल!**
**तड़ तड़ पड़ती धार वारि की उन पर चंचल,**
**टप टप झरती कर मुख से जल-बूँद झलमल।**

इस वर्णन में रहस्य किंचित भी नहीं है, परन्तु कवि शब्दों को नाना झंकारों से भर देता है और उनमे सावन की अजस्र वर्षा ध्वनि को जीवित करने में समर्थ होता है। इस तरह के सरल वर्णन कवि की प्रतिभा के ही द्योतक हैं। परन्तु केवल शब्दो के संगीत को लेकर ही कवि कल्पना के बड़े बड़े महल उठाने में सफल हुआ है। उदाहरण-स्वरूप, बादलो का यह ध्वन्यात्मक वर्णन :—

धूम-धुमारे, काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदनराज के बीर बहादर
पावस के उड़ते फणिधर ;
चमक-झमक मय मंत्र वशीकर,
छहर-लहरमय शशिसीकर,
स्वर्ग सेतु से इन्द्र धनुष धर,
काम-रूप घनश्याम अमर !

यहाँ केवल स्वरों के संकोच-प्रसार और व्यंजनों की विरोधी झंकारों को लेकर श्रेष्ठ काव्य की प्रतिष्ठा की गई है। वास्तव में ध्वन्यात्मक चित्रण में कवि को अपूर्व सफलता मिली है। उसका सारा काव्य ही इसका प्रमाण है। अनेक पंक्तियाँ ध्वनि में डूब कर झंकार मात्र बन गई हैं। उदाहरणार्थ :—

बन-बन उपवन—
छाया उन्मन-उन्मन गुञ्जन,
नव वय के अलियों का गुंजन।
रुपहले, सुनहले आम्र-बौर,
नीले, पीले, औ' ताम्र भौंर,
रे गंध-अंध हो ठौर-ठौर
उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के बन में गुंजन।

बहुधा कवि वातावरण का निर्माण करने के लिए नाद-प्रधान शब्दों का प्रयोग करता है और स्वरों एव व्यंजनो के कलात्मक प्रयोग द्वारा साधारण चित्र में अपूर्व, अश्रुत ध्वनि भर देता है। ऊपर से देखने से यह उसका शब्दाडंबर मात्र जान पड़ता है परन्तु जो कविता के मर्म से परिचित है वह यह जानता है कि प्रत्येक शब्द चित्र के लिए आवश्यक है। बसंत के इस चित्र में वर्ण्य क्या है :

**डोलने लगी मधुर मधु वात**
**हिला तृण, व्रतति, कुंज, तरु-पात,**
**डोलने लगी प्रिये ! मृदु वात**
**गुंज-मधु-गंध-धूलि-हिम गात।**
**खोलने लगी, शयित चिरकाल,**
**नवल कलि अलस पलक-दल-जाल,**
**बोलने लगी डाल से डाल,**
**प्रमुद, पुलकाकुल कोकिल बाल।**
**युवाओं का प्रिय पुष्प गुलाब,**
**प्रणयस्मृति चिन्ह, प्रथम मधुबाल,**
**खोलता लोचनदल मदिराभ,**
**प्रिये, चल अलिदल से वाचाल।**

मधुर शब्दों की एक पंक्ति काले-काले भौरों की तरह सहसा गुंजार कर उठती है। पाठक का हृदय इस मादक गुंजार से भर जाता है—'गुंज-मधुगंध-धूलि-हिमगात !' वास्तव में व्यंजनों के ध्वन्यात्मक सौन्दर्य और स्वरो के संकोच-प्रसार एवं स्वरमैत्री की जितनी परख पंत को है, उतनी सारे हिंदी काव्य-साहित्य में किसी कवि में नहीं मिलेगी। ध्वन्यात्मक शब्दों का एक बहुत बड़ा कोष उन्होने स्वयं तैयार किया है। उसे केवल अनुप्रास का

प्रयोग कह कर नहीं टाला जा सकता। वर्षा के स्वरसंगीत की एक झलक-सी इन पंक्तियों में उतर आती है :

> पपीहों की वह पीन पुकार,
> निर्झरों की भारी झर झर,
> झींगुरों की झीनी झनकार,
> घनों की गुरु-गंभीर घहर।
> बिन्दुओं की छनती छनकार,
> दादुरों के वे दुहरे स्वर।

कवि के पहले आलोचकों ने उसके इस 'झरझर', 'मरमर' की बड़ी हँसी उड़ाई थी, परन्तु आज सब जानते हैं कि इन छोटे-छोटे ध्वन्यात्मक शब्दों को खोज कर पंत ने हिंदी कविता के व्यंजना-क्षेत्र का विस्तार ही किया है। आधुनिक कविता में पंत के भाषाकोष और उनकी भाषा-शैली का बड़ा व्यापक प्रयोग हो रहा है, यही एक बात उनकी विजय की सूचना देती है। उनके समसामयिक प्रसिद्ध कवियों ने भी उनकी शब्दावली को अपनाया है, यह कम श्रेय की बात नहीं है।

पंत की यह शब्दावली पूर्णतः उनकी अपनी है। बड़ी सतर्कता से उन्होंने उसका निर्माण किया है। इस निर्माण में उन्होंने अत्यंत तीव्र, सौन्दर्यान्वेषिणी अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है। पं० कृष्णशङ्कर शुक्ल के शब्दों में—'यहीं तक नहीं, कवि की दृष्टि ने और भी सूक्ष्मता प्राप्त की है। अनेक पदार्थ दृश्य होते हैं पर हम उन्हें छू नहीं सकते। उदाहरण के लिए धूप तथा अन्धकार लिए जा सकते हैं। पर कल्पना के द्वारा हृदय पर पड़े हुए इनके प्रभाव को दृष्टि में रखकर इनके स्पर्श की विशेषता की भी कल्पना की जा सकती है। यह स्पर्शज्ञान साधारण ज्ञान से भिन्न है। रेशमी गुलाबी पत्थर

यद्यपि छूने में कठोर होगा पर नेत्रों को वह मुलायम होगा। ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर पन्तजी ने अनेक सुन्दर उद्भावनाएँ की हैं। नीचे की पँक्तियों में श्यामल तम को कोमल कहा गया है। यदि वह काला अंधकार होता तो कठोर विशेषण अवश्य प्राप्त होता। रंगों का सूक्ष्म परिज्ञान न रखनेवालों को तो काले तथा श्याम में कुछ भेद प्रतीत न होगा। पर सूक्ष्म-बुद्धि-सम्पन्न कवि इन ठोस भेदों की ही अनुभूति नहीं करता है, उसे तो श्याम तथा श्यामल में भी कुछ भेद प्रतीत होता होगा। श्यामल के लकार ने उसे उच्चारण-माधुर्य के साथ-साथ स्पर्श की सुकुमारता भी प्रदान की है :—

**मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल,**
**नव नील, नील, कोमल, कोमल,**
**छाया तरुवन में तम श्यामल !"**

इस प्रकार की सूक्ष्म विश्लेषिणी अंतर्दृष्टि ईश्वरीय या प्राकृतिक होती है। यह अध्ययन-अध्यापन से प्राप्त नहीं होती। पंत में यह दृष्टि इतनी प्रचुर मात्रा में है कि केवल इसी के बल पर वह अपने काव्य को अत्यंत सुन्दर व्यक्तिगत रूप दे सकते थे। जिस प्रकार ध्वनिचित्रण में वे सफल हैं, उसी प्रकार रूपों और रंगों के चित्रण में भी। लहरों का एक दृश्य देखिये :

चाँदी के साँपों सी रलमल, नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं-सी खिच तरल-सरल

यहाँ लहरों पर पड़े हुए चंद्रातप के छाया-प्रकाश के खेल का बड़ा सुन्दर दृश्य उपस्थित हो जाता है। रंगों के अनेक सूक्ष्म चित्र पंत के काव्य में मिलेंगे :

**विद्रुम औ' मरकत की छाया,**
**सोने-चाँदी का सूर्यातप !**

**हिम-परिमल की रेशमी वायु,**
**शत रत्नछाय, खग-चित्रित नभ !**

साधारण वर्ण-ज्ञान से ये रंगों का गंगा-जमुनी खेल भिन्न है ।'पल्लव' की कोई भी कविता ऐसी नहीं मिलेगी जिसमें कवि ने वर्ण-ज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद का परिचय नहीं दिया हो। कहीं २ ध्वनियों और रंगों को एक अत्यंत सुकुमार शृंखला में गूँथ दिया गया है जैसे :

**स्वर्ग-भंग–तारावलि वेष्ठित**
**गुंजित, पुंजित, तरल, रसाल,**
**मधुगृह से हम गगन-पटल में**
**लटके रहते विपुल विशाल**

अनेक कविताओं में वर्ण-मिश्रण की भी अद्भुत छटा है :

**देखता हूँ जब पतला**
**इन्द्रधनुषी हलका**
**रेशमी घूँघट बादल का**
**खोलती है कुमुदकला**

यहाँ इंद्रधनुष के सातों रंगों, रेशम की लालिमा और कुमुदकला-जैसी मोती-जैसी सुन्दर मुख-छवि ने एक साथ मिलकर रंगों का एक अभूतपूर्व इंद्रजाल बुन दिया है। सच तो यह है कि कवि ने रूप-रंग और ध्वनियो का एक अनोखा संसार खड़ा कर दिया है।

पद-योजना और भाषाशैली के क्षेत्र में भी पन्त ने कम क्रांति नहीं की है। वे मूलतः अलंकारों के विरोधी नही हैं। 'पल्लव' में उन्होने लिखा है : 'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आव-

श्यक उपादान् हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झङ्कारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल-लहरियाँ, तरुण तरंगों में फूट गई हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हो। वे वाणी के हास, अश्रु, पुलक, हाव-भाव हैं।' रीतिकाल की कविता में जिस प्रकार कविता अलंकारों के चौखटों में 'फिट' की जाती थी, उस प्रकार की कविता पन्त की दृष्टि में कविता ही नहीं है। काव्यशैली में जहाँ अलंकार स्वाभाविक रूप से आजायें, वहीं वह आने योग्य हैं। भावुक कवि पन्त अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उपमा और रूपक के बिना चल भी नहीं सकते, परन्तु उनकी कविता में कृत्रिमता नहीं है। उन्होंने अपने चारों ओर प्रकृति और मानव को बड़ी सतर्कता से देखा है और उसीसे अपने अप्रस्तुत खोज निकाले हैं। 'पल्लव' की कुछ कविताओं में उन्होंने कल्पना का इतना घटाटोप छा दिया है कि उनका काव्य-रस चला हो गया है। 'छाया' कविता की कुछ पंक्तियां देखने योग्य हैं :

**तरुवर की छायानुवाद-सी,**
**उपमा-सी, भावुकता-सी,**
**अविदित भावाकुल भाषा-सी;**
**कटी-छँटी नव कविता सी,**
**पछतावे की परछाई सी**
**तुम भू पर छाई हो कौन!**
**दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी,**
**अपराधी-सी भय से मौन!**
**मदिरा की मादकता-सी औ'**
**वृद्धावस्था की स्मृति-सी,**

दर्शन की अति जटिल ग्रंथि-सी,
शैशव की निद्रित स्मिति-सी,
आशा के नव इंद्रजाल सी,
सजनि ! नियति-सी अंतर्धान,
कहो कौन तुम तरु के नीचे
भावी-सी हो छिपी अजान !

इस प्रकार की अनेक 'मालोपमाओं' की योजना 'पल्लव' में हुई है। यहाँ कवि ने छाया जैसी अमूर्त वस्तु को पछतावे की परछाईं से स्पष्ट करने की चेष्टा की है जो और भी अधिक अमूर्त—केवल भाव-मात्र है। फलतः छाया का कोई भी चित्र नेत्रों के सामने खड़ा नहीं होता। परन्तु 'बादल' जैसी मूर्त वस्तु के लिए भी कवि अमूर्त वस्तु ही अप्रस्तुत के रूप में स्वीकार करता है। इससे भाव की व्यंजना तो खूब हो जाती है। परन्तु प्रस्तुत का कोई भी ठीक-ठीक चित्र आँख के सामने उपस्थित नहीं होता :

धीरे २ संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि-भोर;
इंद्रचाप-सी व्योम-भृकुटि पर
लटक मौन चिंता-से घोर,
घोष भरे विप्लव-भय से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर !

इस तरह के अप्रस्तुत मुख्यतः बुद्धि-विलास कहे जा सकते हैं। कवि को इस बात का श्रेय मिलना चाहिये कि उसने मानसिक जगत को अप्रस्तुतों के

के लिए छाना है, परन्तु इससे उसका काम कुछ जटिल एवम् रहस्यमय बन गया है। 'नक्षत्र' सरीखी कविताओं में उत्प्रेक्षाओं की जो लड़ी मिलती है, वह भी वाग्विलास से अधिक महत्व नहीं रखती। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि पन्त की कल्पनाशक्ति बड़ी प्रचुर है और उसने पृथ्वी और आकाश के बीच की किसी भी वस्तु को छोड़ा नहीं है। 'परिवर्तन' में उन्होंने बडे सुन्दर रूपकों का प्रयोग किया है। नृशस नृपति का यह रूपक देखिये—

**अहे दुर्जेय विश्वजित !**
**नवाते शत सुरवर, नरनाथ**
**तुम्हारे इंद्रासन-तल माथ,**
**घूमते शत-शत भाग्य अनाथ,**
**सतत रथ के चक्रों के साथ !**
**तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित**
**करते हो संसृति को उत्पीड़ित पद मर्दित,**
**नष्ट नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,**
**हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर सन्चित !**
**आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल,**
**वह्नि, बाढ़, भूकंप तुम्हारे विपुल सैन्यदल,**
**अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल**
**हिल हिल उठता है टलमल**
**पद-दलित धरातल**

परन्तु कहीं २ सांगरूपक से सहायता मात्र लेकर अत्यंत कलात्मक ढंग से उन्होंने अपने भावों की अभिव्यक्ति की है। 'ग्रन्थि' की अपनी प्रेयसी के सम्बन्ध में कवि लिख रहा है :

रूप का राशि राशि वह रास !
दृगों की यमुना श्याम,
तुम्हारे स्वर का वेणु-विलास,
हृदय का यमुना-धाम,
देवि ! मथुरा था वह आमोद,
दैव ! ब्रज, अह ! यह विरह - विषाद !
आह, वे दिन ! द्वापर की बात !
भूति ! भारत को ज्ञात !!

यहाँ स्पष्ट ही राधा-कृष्ण का रूपक बाँधा गया है, परन्तु कवि अपनी बात कुछ इस तरह उपस्थित करता है कि उसमें मार्मिकता उत्पन्न हो जाती है। पूर्व और पश्चिम के अनेक अलकारों का पंत के काव्य में बहुत बड़ी मात्रा में प्रयोग हुआ है, परन्तु वे सीधे-साधे ढंङ्ग से लिखना भी जानते है और वह नितात सरल बात में भी आकर्षण पैदा करने में समर्थ हैं। साधारणतः कल्पना-प्रधान कवि अलंकारों के माध्यम के बिना अपनी बात कह ही नही सकते। परतु पन्त अपवाद हैं। 'दिवास्वप्न' में कवि गंगा की लहरो में स्वच्छंद क्रीड़ा की बात सोचता है। वह कल्पना करता है :—

यह सैकत तट पिघल-पिघल यदि बन जाता जल,
बह सकती यदि धरा चूमती हुई दिगंचल,
यदि न डुबाता जल, रहकर चिर मृदुल तरलतर,
तो मै नाव छोड़, गङ्गा के गलित स्फटिक पर
आज लोटता, ज्योति-जड़ित लहरों सँग जी भर !
किरणों से खेलता मिचौनी मैं लुक-छिप कर,

लहरों के अञ्चल में फेन पिरोता सुन्दर,
हँसता कल-कल मत्त, नाचता,झूल पैंग भर !
कैसा सुन्दर होता, बदन न होता गोला,
लिपटा रहता सलिल रेशमी पट-सा ढीला !

कैसी सुन्दर कल्पना है परन्तु अलंकारो का आलंबन यहाँ किंचित भी नहीं है। अपने परवर्ती काव्य में कवि ने निरालंकार वाणी की साधना की है। रवि बाबू की अंतिम कविताओं की तरह यह कवितायें भी अपने नग्न सौन्दर्य मे अप्रतिम हैं। कवि गाँव का सौन्दर्य चित्रित कर रहा है :

बगिया के छोटे पेड़ों पर
सुन्दर लगते छोटे छाजन,
सुन्दर, गेहूँ की बालों पर
मोती के दानों से हिमकन।
प्रातः ओझल हो जाता जग,
भू पर आता ज्यों उतर गगन,
सुन्दर लगते फिर कुहरे से
उठते-से खेत, बाग, गृह, बन।
बालू के साँपों से अंकित
गंगा की सतरंगी रेती,
सुन्दर लगती सरपत छाई
तट पर तरबूजों की खेती।
अँगुली की कंघी से बगुले
कलँगी सँवारते हैं कोई,
तिरते जल में सुरखाब, पुलिन पर
मुगरौठी रहती सोई।

**डुबकियाँ लगाते सामुद्रिक,**
**धोतीं पीली चोचें धोबिन,**
**उड़ अबाबील, टिटहरी, बया,**
**चारा चुगते कर्दम, कृमि, तृण ।**
**नीले नभ में चीलों के दल**
**आतप में धीरे मँडराते,**
**रह रह काले भूरे, सुफेद**
**चल पंखों के रँग झलकाते ।**

**( ग्राम-श्री )**

पत की कविताओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारों के प्रति उनका आग्रह अधिक नहीं है । 'पल्लवकाल' तक कवि का सारा व्यक्तित्व कल्पना-जड़ित था । उस समय के सारे काव्य में जाने-अनजाने अनेक अलकार आ गये है । अपने भाव-जगत के सारे स्वप्नों और प्रकृति की सारी शोभा को कवि ने अलकारो के माध्यम से ही देखा है । उसकी कल्पना उसे वस्तु-जगत के यथार्थ रूप से परिचित नहीं होने देती । परन्तु धीरे - धीरे कल्पना का यह मायावरण उतरता गया है, कवि धीरे - धीरे भाव की ठोस भूमि पर स्थिर रहने लगा है । 'गुंजन' से 'युगांत' तक वह बराबर कल्पना के सत्य से चलकर यथार्थ के सत्य तक पहुँचता रहा है । 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में उसने जीवन की तरह काव्य के सम्बन्ध में भी नया दृष्टिकोण आविष्कृत किया है । उसकी कविता अब विचारात्मक हो जाती है । वह जैसे अपने कल्पना-शील चितन को सावधान करने के लिए कहता है:

**तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार;**
**वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार ?**

परन्तु फिर भी कहीं-कहीं वाणी का पहला आलंकारिक गौरव जाग पड़ता है और कवि अपनी प्रकृत भूमि पर आ जाता है। वास्तव में कवि के व्यक्तित्व में यथार्थ और आदर्श, कल्पना जगत और वस्तु जगत, ध्वन्स और निर्माण का द्वन्द चलता रहता है और वह किसी निश्चित समाधान पर नहीं पहुँच पाता!

पन्त के काव्य के इस विश्लेषण से हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके काव्य में मौलिक तत्वों की कमी नहीं है। भाषा, भाव, छंद और कला के क्षेत्रों में उन्होने अपनी प्रतिभा का नया-नया उन्मेष हिन्दी को दिया है। लगभग ३० वर्षों से वह सौन्दर्य और कला की सचेतन साधना में संलग्न हैं। उनकी इस साधना की बात उनके मुँह से ही सुनिये। अपने प्रारम्भिक कवि जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है। "मेरे भाई कवि थे। वे 'मेघदूत' का पारायण किया करते थे। मैं उनको सुना करता था। और उससे मुझे रसोद्रेक हुआ। मैं अक्सर भाव-लहरी में डूबता-उतराता था। सन् १९१५ में हिन्दी ने अल्मोड़ा को अभिभूत कर दिया था और लोगों ने इस भाषा के प्रति अतीव चाव प्रदर्शित किया। स्वामी सत्यदेव हिन्दी के विषय में भाषण दिया करते थे और जनता में सर्वत्र हिन्दी की चर्चा होती थी। मैं भी हिन्दी के विषय में उद्‌बोधित हुआ, काव्य पढ़े और कुछ स्वयं लिखने की इच्छा हुई। प्रारम्भ में मैंने अपनी काव्यात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यञ्जना गद्य में की। मेरी प्राथमिक कविता अपने एक संबन्धी को लिखे हुए पत्र में है। मेरे पास अब वह नहीं रही। मेरी अन्य कविताएँ 'तम्बाकू का धुआँ' और 'कागज के फूल-पत्ते' शीषक थीं, जो अल्मोड़ा के एक पत्र में प्रकाशित हुईं, और जिससे मुझे स्थानीय ख्याति मिली। मुझको शेली, कीट्स, वर्ड्स्वर्थ, टेनीसन और शेक्सपिअर से बहुत प्रेरणा मिली। उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों का मुझ पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। मैंने रवीन्द्रनाथ की रचनाओं को तब पढ़ा जब मैं हाई स्कूल का विद्यार्थी था और उप-

निषदों को भी पढ़ते समय में लघु वयस्क था।" १६२१ ई० के असहयोग आंदोलन में कवि ने अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त कर दिया। उन दिनों वे म्योर कालिज के छात्र थे और हिन्दू होस्टल में रहते थे। उन दिनों वे 'परिवर्तन' कविता लिख रहे थे। इसके बाद उन्होंने कविता-देवी की उपासना को ही अपने जीवन-ध्येय बना लिया। सन् १६२६ में 'पल्लव' प्रकाशित हुआ। तब २७ वर्ष के इस तरुण कवि को पाठकों और आलोचकों ने पूर्णतः अंगीकार कर लिया। कुछ विरोध भी हुआ परन्तु प्रशंसकों की संख्या भी कम नहीं थी।

'पल्लव' (१९२६) के प्रकाशन के बाद पन्त को क्षयरोगग्रस्त होना पड़ा। इस रोग से बड़ी कठिनता से उनका उद्धार हुआ। इन्हीं दिनों 'पन्त और पल्लव' शीर्षक से 'निरालाजी' की एक लेखमाला भी माधुरी में प्रकाशित हुई। इस लेखमाला में पन्त की कला को व्यंग का विषय बनाया गया था और उन पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखलाया गया था परन्तु इस तीव्र विरोध ने पन्त को निराला की ओर आकर्षित ही किया। उनका सौम्य व्यक्तित्व वाद-विवाद के बवन्डर उठाना जानता ही नहीं। स्वस्थ होने पर पन्त लखनऊ रहने लगे। इन्हीं दिनों उनका दूसरा प्रसिद्ध काव्य संग्रह 'गुंजन' प्रकाशित हुआ और यहीं रहकर उन्होने 'ज्योत्स्ना' (१६३४) की रचना की। इन दिनों दिनो निराला भी लखनऊ में रहते थे और अनेक विषयों पर दोनों कवियों का विचार-विनिमय भी चलता था। परन्तु पन्त का व्यक्तित्व निराला के व्यक्तित्व से उतना ही भिन्न था जितनी उनकी कविता निराला की कविता से भिन्न थी। उन्होंने अपने निश्चित पथ पर चलना ही के श्रेयस्कर समझा। जीवन की हलचलो से दूर अपने सारे व्यक्तित्व स्वप्न और मधुरिमा से गढ़ कर उन्होंने सौन्दर्य और कला की साधना जारी रखी। वे कभी अपने चाचा के पास लखनऊ रहते, कभी कालाकांकर। कालाकांकर के अपने निवास-स्थान 'नक्षत्र' को उन्होने कई कविताओं में

अमर किया है। उसके सम्बन्ध में जो उन्होंने लिखा है उससे उनकी उस समय की प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। कवि कहता है :

मेरे निकुंज, नक्षत्र वास !
इस छाया-मर्मर के बन में
तू स्वप्न-नीड़ सा निर्जन में
है बना प्राण-पिक का विलास !

× ×

कितनी आशाएँ, मनोल्लास,
संकल्प महत्, उच्चाभिलाष,
तुझमें प्रतिक्षण करते निवास,
है मौन श्रेय साधन प्रयास !
तू मुझे छिपाए रह अजान
निज स्वर्ण मर्म में खग समान
होगा अग-जग का कंठ-गान
तेरे इन प्राणों का प्रकाश

(१९३२)

युगांतर (१९३६) के प्रकाशन के बाद कवि ने धीरे-धीरे जीवन की पुकार को सुना। १९३८ ई० में उसने प्रयाग में रहना आरम्भ किया और वह कुछ प्रसिद्ध समाजवादी नेताओं के सम्पर्क में आया। इस सम्पर्क ने उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार किया। उन दिनो लेनिन, त्रातस्की और मार्क्स के सिद्धांतो के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क चलते और कवि बड़े ध्यान से उन्हें सुनता। उसने स्वय समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धांतों का अध्ययन किया और अपने मंगलाकांक्षी मानववाद को मार्क्स के जीवन-दर्शन के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' इस

प्रयत्न के फल हैं। 'युगवाणी' पन्त के मार्क्सवाद का सैद्धांतिक पक्ष है, 'ग्राम्या' काव्य-पक्ष। १९४१ ई० में कवि को फिर मृत्यु का सामना करना पड़ा। बीमारी से उठने की कोई आशा ही नहीं रह गई थी। अन्त में वे दिल्ली जाकर प्रसिद्ध चिकित्सक डा० नीलाम्बर जोशी के अस्पताल में रहने लगे और उनके अकथ परिश्रम के द्वारा महीनों की मृत्युपीड़ा के पश्चात् उन्होंने पुनर्जीवन प्राप्त किया।

इस समय की अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—"मैंने शारीरिक पुनरुत्थान की आशा छोड़ दी थी। कई दिनों तक तापमान १०७ डिग्री था, पर मानसिक शांति बनी हुई थी। ज्वर ने मुझको तीन बार लौट कर ग्रस्त किया। पर मानसिक शांति ने मेरी प्राणरक्षा की। जब मेरे मानस पर विचारों और भावनाओं का आक्रमण होता था तो उनको लेखनी बद्ध करने की अशक्तता मुझको खिन्न करती थी। फिर भी इस बीमारी ने मेरा एक प्रकार भला किया है। मेरे कई मिथ्या भाव छिन्न हो गए हैं। मेरी नूतन कृतियों में एक बदला हुआ दृष्टिकोण है। दूसरी घटना, जिसका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा, सन् १९४२ का विद्रोह था। अंगरेज़ों की बर्बरता ने मुझको हिला दिया और अपने चारों तरफ दुःख और अत्याचार देखकर मुझको बड़ी चोट पहुँची। मैं शांति के लिए तरसता था और अल्मोड़े में कालयापन कर रहा था। उदयशंकर के संस्कृति केन्द्र ने मुझे आकर्षित किया और मैं उसमें शामिल हो गया। वे नाटकों को शुरू करना चाहते थे और मेरी भी इस ओर रुचि थी। पर वह योजना गिर गई। मैं सन् १९४३ में वहाँ शामिल हुआ था और करीब एक साल तक वहाँ रहा।' पंत की दो अंतिम रचनाओं 'स्वर्ण - किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' के सम्यक् अध्ययन के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि ये रचनायें उनकी मार्क्सवादी रचनाओं के बाद की रचनाएं हैं और इनके पीछे उनके संघातक रोग और पुनर्जीवन प्राप्ति की वीथिका है। साथ ही इन रचनाओं पर अरविंद घोष के जीवन-दर्शन और संपर्क का भी प्रभाव है। बीमारी के उपरांत शांति की

खोज में पंत अरविंदाश्रम मे भी गये थे और वहाँ कई हफ्तों तक रहे थे। वे कहते हैं—"पाडिचेरी में मेरा बहुत लाभ हुआ। मेरी आस्था के कई ध्वंस अंशों का पुनरुद्धार हो गया। मार्कसवाद की ओर कुछ अभिरुचि होते हुए भी मेरी आर्यदर्शन के प्रति आस्था थी। पांडिचेरी में उसके महत्व का मुझे और भी अधिक अभिज्ञान हुआ। श्री अरविंद स्वय देवमूर्ति हैं। मैं उनको दुनिया का भावी दार्शनिक मानता हूँ। जीवन और विश्व का जैसा सर्वांगीण समन्वय उन्होने किया है वैसा किसी दूसरे ने नहीं किया। वे पूर्ववर्ती दार्शनिकों से कहीं ऊंचे हैं। आज वे ७४ वर्ष के हैं। पर स्वास्थ्य अति उत्तम है। वे काफ़ी लिखते हैं और लोगों से नहीं मिलते। वे बड़े भारी योगी हैं, शायद इस युग में सबसे बड़े। वे एक उच्च कवि हैं और उनके लेख ज्ञानगर्भित और गंभीर रहते हैं।" अपनी एक कविता में उन्होंने श्री अरविंद के प्रति लिखा है :

**तुम भविष्य के दिव्यालोक, देव, अतिजीवित,**
**मानव अंतर तुमसे उच्च, अतल, अति विस्तृत;**
**रुद्ध द्वार कर मुक्त हृदय के, चिर तमसावृत,**
**अंतर्जीवन सत्य कर दिया तुमने ज्योतित !**
**अधिमानस से भी ऊपर विज्ञान भूमि पर**
**तुम अध्यात्म तत्व के हिमगिरि से स्थित निर्भर !**
**ज्योतिमूर्त चेतना ज्वलित हिमराशि-सी निखर**
**मर्त्य-स्वर्ग के पार उठाए सत्य के शिखर !**
**एक स्तम्भ उपनिषत् ब्रह्म विद्या के निश्चय,**
**ज्योति-स्तम्भ दूसरा देव का शब्द असंशय,**
**दिव्य चेतना-सेतु ऊर्ध्व जिन पर ज्योतिर्मय**
**आर-पार भव जीवनाब्धि के, अति-मानव, जय !**

**( श्री अरविंद-दर्शन )**

वास्तव में कवि के परवर्तित अध्यात्म दर्शन पर श्री अरविंद की आध्यात्मिक विचारधारा का गहरा प्रभाव है यद्यपि कवि ने उसे अपने ढंग पर ग्रहण करने की चेष्टा की है।

पंत का आगे का क्षेत्र क्या होगा, यह कहना कुछ कठिन है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह पूर्णतः जागरूक हैं और उनमे अभी काफ़ी क्षमता है। उनके विचार में कवि एक द्रष्टा है। उसको उच्चतर आंतरिक सत्य की झलकियाँ दिखानी पड़ती हैं और जीवन के सद्गुणो के विकास मे सहयोग देना पड़ता है। उसको चाहिए कि समाज की समानान्तरित बुद्धि में सहायता दे। कवि को चाहिए कि लोगों का प्रवेश उच्च स्तरों मे कराये और उनको महत्तर कार्यों की ओर प्रवृत्त करे।' अपने नए दृष्टिकोण को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है : "मार्क्सवाद आत्मा के सत्य का निषेध करता है, और मैं इससे असहमत हूँ। ससार मे एक नूतन सांस्कृतिक शक्ति की वृद्धि होनी चाहिये जो वाह्य और आभ्यंतर जीवनों मे समन्वय स्थापित करे। ऐसा सामंजस्य अवश्यंभावी है।" "मैं महसूस करता हूँ कि दुनिया में मानवता में ऐक्य स्थापित करने और जीवन की वास्तविकताओं को बेहतर बनाने के लिए एक नयी सांस्कृतिक शक्ति का अवतरण होना चाहिये। वाह्य जीवन में संतुलन आवश्यक है, पर आन्तरिक जीवन का विकास भी करना है।" अपनी परवर्ती रचनाओं द्वारा उन्होंने मनुष्य के आंतरिक जीवन के ऊँचे स्रोत को उन्मुक्त करने का प्रयत्न किया है। अदम्य विश्वास से वह जगत की शाश्वत सुषमा और मानव के देवत्व की घोषणा करते है :

**निश्चय ही यह जग शाश्वत सुख का चिर दर्पण,**<br>
**मनुज नियति रे यह कटु सामाजिक संघर्षण;**<br>
**सत्य, ज्योति, अमरत्व चाहता है अंतर्मन,**<br>
**सुन्दरता, आनन्द, प्रेम,—वह शाश्वत का कण!**

वह विश्व-संस्कृति के रूप में एक महान समन्वय की कल्पना करते हैं :

भू-रचना का भूतिपाद युग
हुआ विश्व-इतिहास में उदित,
सहिष्णुता सद्भाव शांति से
हों गत संस्कृति धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग् भ्रम
मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्
अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित !
पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो
विकसित विश्व-तंत्र में विकसित,
प्राची के नव आत्मोदय से
स्वर्ण द्रवित भू-तमस तिरोहित !
लोक-नियति निर्माण करें नव
देश-देश के विविध विपश्चित,
राष्ट्र-नायकों के सँग दुर्वह
राजकर्म में हों सक्रिय चित !
सर्वोपरि मानव-संस्कृति बन
मानवता के प्रति हो प्रेरित,
द्रव्य मान पद यश कुटुम्ब कुल
वर्ग राष्ट्र में रहें न सीमित !
एक निखिल धरणी का जीवन,
एक मनुजता का संघर्षण,

विपुल ज्ञान-संग्रह भव पथ का
विश्व-क्षेम का करे उन्नयन !
दिव्य क्षेत्र हो जो भू-जीवन
युक्त निखिल हों भू के मानव,
अंतर्जीवन का प्रवाह ही
भर सकता जग में समत्व नव!
नहीं दिव्यता स्वप्न-कथा रे
वह अन्तरतम मे अन्तर्हित,
सारतत्व वह मनुष्यत्व की
निखिल सृष्टि की गति में झंकृत !
विजातीय हों कलुष-तमस-दुख,
स्वजातीय देवत्व चिरंतन,
मानव तू शुक्रोसि स्वरसि
भ्राजोसि ज्योतिरसि, सत्य ऋषि-वचन !

(स्वर्णोदय)

आधुनिक युग के लिए विश्वजनीन भावो के आधार पर मूल मानव की प्रतिष्ठा से बड़ा और कौन सन्देश होगा ? कवि का यह सन्देश प्रागैतिहासिक काल से भारतवर्ष का सन्देश रहा है। परन्तु कवि ने उसे यों ही नहीं कहा। उसे मार्मिक पीड़ा और सघातक क्षोभ के भीतर तपना पड़ा है। योरोपीय विज्ञानवाद, मार्क्सवाद और मानववाद को अलग-अलग परख कर उसने एक विशेष समन्वय के प्राप्ति की चेष्टा की है। इस समन्वय में औपनैषदिक अध्यात्मवाद की थोड़ी झलक आ जाती है, परन्तु इसका मूलाधार विज्ञानवाद से भिन्न नहीं है। अपने युग के सारे जीवन और उसकी सारी विषमताओं को अपने चिंतन की आग में तपा कर कवि ने भावी संस्कृति की यह स्वर्ण-प्रतिमा गढ़ी है। भू-संस्कृति की यही रूपरेखा भावी संतति को मान्य होगी, कवि को ऐसा विश्वास है।

इन पृष्ठों में अत्यन्त सन्क्षेप में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जायगा कि पन्त जहाँ कवि और कलाकार के रूप में इस युग के हिन्दी कवियों में विशेष स्थान रखते हैं, उसी तरह चिंतन के क्षेत्र में भी वह कदाचित् सबसे महान है। उन्होंने अपने युग के राजनीतिज्ञों के भू-राष्ट्र (World-State) के स्वप्न से आगे बढ़कर मानव की संस्कृत। अवचेतना के आधार पर एक विराट भू-संस्कृति के निर्माण का संदेश दिया। इस भू - संस्कृति में अंतर्जीवन और वहिर्जीवन का पूर्ण समन्वय होगा। हमारी आध्यात्मिक परम्परा का सारा माधुर्य इस भू-संस्कृति को प्राप्त होगा और भौतिक विज्ञान की सारी सुविधायें प्रत्येक जन को मिलेंगी। इस प्रकार पृथ्वी पर भू-स्वर्ग की कल्पना सत्य हो जायगी। 'पल्लव' और 'गुन्जन' का पन्त कल्पना, संगीत, कला और भावों के सौन्दर्य का पुजारी था। इन सभी क्षेत्रों में उसने अकेले हिंदी को इतना दिया है जितना कई कवियों ने मिलाकर नहीं दिया। हिंदी काव्य की चतुर्दिक क्रांति का बहुत कुछ श्रेय उसे ही मिलेगा। आधुनिक हिंदी काव्य में से हम केवल उसके ही काव्य के लेकर विश्व के सम्मुख उपस्थित हो सकते हैं। केवल कविता की दृष्टि से इन संग्रहो की रचनाओं में वह महान है। इन रचनाओं में जैसे वह अपने सारे व्यक्तित्व को लेकर आत्मविभोर हो कर कह रहा हो :

**मुझे न अपना ध्यान,**<br>
**कभी रे रहा न जग का ज्ञान !**<br>
**सिहरते मेरे स्वर के साथ**<br>
**विश्व-पुलकावलि से तरु-पात,**<br>
**पार करते अनंत अज्ञात**<br>
**गीत मेरे उठ सायं-प्रात,**

गान ही में रे मेरे प्राण,
अखिल प्राणों में मेरे गान !

(जुलाई, १९२७)

परन्तु 'युगांत' (१९३६) के बाद कवि ने केवल कवि-कर्म से संतोष नहीं किया है। वह जीवनदर्शी और भविष्य-वक्ता बन गया है। उसका एक मात्र विषय रह गया है मानव। इस मानव के प्रति उसकी संवेदना उमड़ी पड़ती है और वह उसे इसी धरती पर एक स्वर्ण-नीड़ देना चाहता है। इस स्वर्णनीड़ बनाने के लिए उसे स्वर्णतृणों का भी आयोजन करना पड़ा है। आधुनिक विश्व के अनेक मतवादों के जनहित के सबसे सुन्दर तथ्यों को उसने तृणों के रूप में चुना है। अब वह केवल कवि नहीं, आर्ष कवि बन गया है। उसके स्वर में युग की वाणी बोलने लगी है। यही युग-युग की वाणी भी है। मानवता को बंधन-मुक्त कर आत्मा, मन, ज्ञान-विज्ञान और कला के सारे साधन उसके लिए सुलभ कर देना ही कवि आज का सबसे बडा पुरुषार्थ समझता है।

कुछ कहेंगे, कवि अपनी प्रकृत भूमि से नीचे उतर आया है। उसके काव्य में गद्य अधिक आ रहा है। 'पल्लव' और 'गुन्जन' के बाद उसकी कवि-प्रतिभा समाप्त हो गई है। परन्तु ऐसे तार्किक कविता के सच्चे मर्म को नहीं पहचानते। कवि को हम केवल इन्द्रधनुषी स्वप्नों में कब तक बन्दी रख सकेंगे ! कवि जैसा संवेदना-शील प्राणी अपने युग की पुकार क्यों नहीं सुनेगा ? महान चिरंतन प्रश्नों की ओर से वह कब तक बधिर रहेगा ? यदि वह कवि है, उसमें प्रतिभा के सौ कमल खिले है तो चिंतन के बीच भी उसकी सुरभि व्याप्त रहेगी। उसका कवित्व उसके चिंतन को वहाँ सहज ही पहुँचा देगा जहाँ केवल दार्शनिक पहुँच ही नहीं सकता। दार्शनिक के सत्य के तेज से हमारी आँखें झपकने लगती हैं, कवि उस सत्य के तेज को गुलाबों की लाली जैसा नेत्ररंजक बना देता है। फिर हम उससे चिंतन का अधिकार

क्यों छीन लें ? कवि यदि अपने युग का सारा ज्ञान-विज्ञान अपने रुधिर में घोल कर अपने गीत गाता है तो इसमें हानि ही क्या ! शोभा के स्वर्णिम पिंजरे में बन्दी होकर तो वह विरलांछित ही रहेगा। कवि पूछता है—

क्यों तुमने निज विहग गीत को
दिया न जग का दाना-पानी,
आज आर्त अंतर से उसके
उठती करुणा-कातर वाणी !
शोभा के स्वर्णिम पिंजर में
उसके प्राणों को बन्दी कर,
तुमने ज्यों उसके जीवन की
जीव-मुक्ति ली पल भर में हर !
नीड़ बनाता वह डाली पर,
फिरता आँगन में कलरव भर
उसे प्रीति के गीत सिखाने
दग्ध कर दिया तुमने अन्तर !

इसीसे वह 'पल्लव' और 'गुन्जन' का सोने का पिंजर छोड़ कर 'जग का दाना-पानी' चुगने बाहर निकल आया। इसमें लांछा की कौन सी बात है ! इस जग के दाने-पानी को खाकर उसने अपनी देह ही मोटी नहीं की, अपनी आत्मा को भी नये प्रकाश से भरा। यह क्या श्रेय की बात नहीं !

पंत का काव्य अभी अपनी अंतिम परिणति को नहीं पहुँचा है। अभी वह विकासप्राय है। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्णधूलि' में अभी उसने अपने अध्यात्मवादी दर्शन की सैद्धांतिक रूपरेखा ही गढ़ी है। उसका काव्यपक्ष

अभी भी अविकसित है। जिस तरह 'ग्राम्या' में उसने अपने मार्क्सवादी दर्शन के काव्यपक्ष को हमारे लिए सौन्दर्य और कला की आकर्षक रंगीनी दी थी, उसी प्रकार वह अपने अध्यात्मवाद को भी कविता के प्राकृतिक उपकरणों से सज्जित करेगा। इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। परन्तु यह निश्चित है कि केवल काव्य, केवल कल्पना, केवल कला कवि का ध्येय नहीं है। वह सोने के पिंजर से बाहर निकल आया है। उसके पंख खुल गये हैं। नीलाकाश का आक्षितिज विस्तार उसके सामने है और यह क्षितिज भी अंत होना नहीं जानता। महान कल्पनाओं का सृष्टा आज अमर सन्देशों का वाहक बन गया है।

# ८

## उपसंहार

श्री सुमित्रानन्दन पंत आधुनिक हिन्दी काव्य के अग्रदूत हैं। निराला और प्रसाद के साथ उनका नाम छायावाद काव्य के प्रवर्तकों में लिया जाता है। १९१३ ई० के लगभग प्रसाद की रचनाओं से इस नई काव्य-धारा का प्रादुर्भाव हुआ और लगभग पाँच वर्ष बाद पंत की वे प्रारम्भिक कविताएं सामने आईं जो 'वीणा' (१९२७) में संग्रहीत हैं। परन्तु जिस काव्य-संग्रह ने हिंदी पाठकों को विशेष रूप से आकर्षित किया और युग-प्रवर्तन की सूचना दी वह 'पल्लव' (१९२६) था। इसमें यह किशोर कवि भाषा-शिल्पी, कल्पना-जीवी और सुन्दर गीति-काव्य-प्रणेता के रूप में हमारे सामने आया। इसके बाद तो कवि बराबर गतिशील बना रहा और आज २०-२२ वर्ष बाद भी काव्यक्षेत्र में उसका नेतृत्व सुरक्षित है। उसकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। 'गुंजन' (१९३२), 'ज्योत्स्ना' (१९३४), 'युगांत' (१९३५), 'युगवाणी' (१९३६), 'ग्राम्या' (१९४०) 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्णकिरण' (१९४६), 'युगपथ' और 'उत्तरा' (१९५०)। इनमें 'ज्योत्स्ना' काव्य-रूपक है यद्यपि उसमें गद्य का ही विशेष प्रयोग हुआ। 'ज्योत्स्ना' कवि की मंगलाशा की प्रतीक है। कवि चाहता है कि संसार पर से जड़ता और मानव-मन की दुष्प्रवृत्तियो का राज्य समाप्त हो जाये और वह साम्य, सहयोग और सुन्दरता की भावनाओं से ओतप्रोत हो जाये। कल्पनाजीवी, भाषा-शिल्पी तरुण कवि के लिए यह एकदम नई दिशा थी, परन्तु अपने परवर्ती काव्य में उन्होंने इस दिशा को विशेष विकसित किया है। वह हमारा सबसे बड़ा मानववादी कलाकार और युगचिंतक है।

पंत में दार्शनिकता का उतना आग्रह नहीं है जितना प्रसाद और निराला में। वे प्राकृत कवि हैं। उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य और मानव जीवन को कुतूहल, उल्लास और रहस्य की दृष्टि से देखा है। वे सच्चे अर्थों में रोमांटिक हैं। 'उच्छ्वास', 'ग्रंथि' "पल्लव' और 'गुंजन'—ये उनके क्रमिक विकास का इतिहास उपस्थित करते हैं। अपने युग में उन्हीं का अनुकरण सबसे अधिक हुआ है और छायावाद काव्य का प्रतिनिधि कवि उन्हें ही कहा जा सकता है। ग्रंथि में यद्यपि कथा-शैली विशेष कारण से खुली नहीं है, परन्तु उसमें हमें पंत के प्रकृत रूप के कुछ दर्शन पहली बार होते हैं। 'वीणा' में उनका रूप बहुत कुछ स्पष्ट हुआ है परन्तु 'पल्लव' में ही वे पहली बार काव्य की मान्यताओं को तर्क-वितर्क की भूमि पर उतारते हुए और निश्चित सिद्धान्तों को लेकर बढ़ते हुए सामने आते हैं। 'पल्लव' (१६२६) में सुकुमार शब्द-चयन, उत्कृष्ट कल्पना-सौन्दर्य और प्रेम की ओर रहस्यात्मक एवं तीव्र आकर्षण, अतीन्द्रिय प्रेम का आग्रह इतने स्पष्ट रूप से जनता के सामने आया कि वह कवि को भली भाँति न समझने पर भी उनके प्रति जिज्ञासु हो उठी। पंत की प्रारम्भिक कविताओं पर यह प्रभाव लगभग नहीं है। इन कविताओं का ऐतिहासिक महत्व महान है क्योंकि इन्हीं के द्वारा काव्य की प्रचलित परिपाटी के प्रति विद्रोह और नवीन काव्य की रूपरेखा प्रकाशित हुई है। 'पल्लव' में पंत का विरोध अत्यन्त सफल कविता के रूप में प्रगट हुआ है। यहाँ हमें छायावाद का प्रकृत रूप मिलता है। 'गुंजन' की कविताओं में कवि विषय, भाषा और प्रेम-व्यंजना की इतनी ऊँची भूमि पर उठ गया है, 'पल्लव' के विरोधी स्वर भी दब गए हैं, परन्तु यहाँ हमें कवि जीवन-मरण जैसे चिरन्तन सत्यों के उद्घाटन में लगा दिखलाई देता है। 'पल्लव' में वह वाह्य जगत पर मुग्ध था, उसके सौन्दर्य में रहस्य और कुतूहल की खोज करता था, 'गुंजन' में अंतःमुख हो गया है, जहाँ उसने वाह्य जगत को दे[illegible] यहाँ [illegible]त्मचिंतन के भीतर से। इसी से 'गुंजन' में दर्शन और [illegible]विता का सु[illegible] सामंजस्य स्थापित हो सका है। आचार्य

शुक्ल जी के शब्दों में—'गुंजन' में हम जीवन-क्षेत्र के भीतर कवि का अधिक प्रवेश ही नहीं, उसकी काव्यशैली को अधिक संयत और व्यवस्थित पाते हैं। प्रतिक्रिया की झोंक में अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की ओर जो प्रवृत्ति हम 'पल्लव' में पाते हैं, वह 'गुंजन' में नहीं है। उसमें काव्यशैली अधिक संयत और गम्भीर हो गई है।"

पंत की परवर्ती कविताओं में अन्य अनेक प्रवृत्तियों का मेल हुआ है, परन्तु उनमें भी वह अपने पुरातन स्वर नहीं भूल सके हैं। जहाँ कवि प्रकृति और नारी-सौन्दर्य के सम्पर्क में आ जाता है, वहाँ उसकी वीणा के पुराने तार ही झंकृत हो उठते हैं। परन्तु इन बाद की कविताओं में वह कल्पना के शीशमहल से निकल कर जीवन के कर्मपथ पर बराबर बढ़ता चला गया है। उसने यह प्रयत्न किया है कि काव्य के भीतर से कर्मठ जीवन के स्वरों के उतार-चढ़ाव चित्रित कर सके, यद्यपि अपनी ईश्वरप्रदत्त कोमल प्रवृत्ति के कारण वह सब कहीं सफल नहीं हो पाया है। फिर भी यह निश्चित है कि उसने प्रकृति, नारी, सौन्दर्य, मानव-समाज और भौतिक द्वन्द्वों को नई दृष्टि से देखा है और उसका काव्य अपने समय के सबसे प्रगतिशील विचारों का वाहन बना है।

अब कवि न केवल कल्पनाजीवी बना रहता है, न केवल औपनिषदिक मंगलवाद में डूबा रहता है। वह अपने काव्य को सामाजिकता की गहरी भित्ति देता है। युगों-युगों से जो अनेक जड़ संस्कार मानव को बंदी बनाये हुए हैं उनके विरुद्ध वह अपनी दृढ़ आवाज़ उठाता है। जहाँ अब तक वह हाड़-मांस की सार्थकता से दूर भागता था, वहाँ अब कहता है :

**कहाँ खोजने जाते हो**
**सुन्दरता औ' आनन्द अपार !**
**इस माँसलता में है मूर्तित**
**अखिल भावनाओं का**

मांस नहीं नश्वर रज, ज्योतित
मांस नहीं जड़ जीव-विलास,
अंतर बाह्य चतुर्दिक है तम,
रूप मांस है अमर प्रकाश !
शत वसंत, शत ग्रीष्म, शरद का
मांस बीज में है आवास,
ईश्वर है यह मांस, पूर्ण यह,
इसका होता नहीं विनाश !

अब तक हमने मनुष्य की दैहिक भूख को घृणा की दृष्टि से देखा है। काम हमारे लिए वर्जन और गोपन की वस्तु रहा है। युग-युग से हम वैराग्य, त्याग और नारी के सम्बन्ध में जुगुप्सा के गीत सुनते रहे हैं। हमारा युग विशेष रूप से अतिनैतिकता से ग्रसित है। परम्परागत रीतियों से बँधा मानव आज अपने बंधनों के प्रति विद्रोह कर उठा है। जब हम नई संस्कृति का शिलान्यास करते हैं तब हमें मानव के पशु की मुक्ति की बात भी सोचना होती है। इसीलिए कवि कहता है—

मानव के पशु के प्रति
हो उदार नव संस्कृति !
युग युग से रच शत शत नैतिक बंधन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु-तन !
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित,
वह न रहेगा अब नवयुग में गर्हित !
नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रीति-नीतियों का गत निर्मम शासन !

आज नारी-नर का प्रेम वासना के व्यक्तिगत बंधनों से बाहर निकल कर एक अत्यन्त स्वाभाविक सामाजिक संस्कार बनने जा रहा है। मनुष्य की वासना

ने नारी को स्मृतियों के इतने विधानों में कस दिया है कि उसका विकास ही लुन्ठित हो गया है। नई संस्कृति की बात उठती है तो नई नारी की बात पहले उठना चाहिये। कवि कहता है :

खोलो हे मेखला युगों की
कटि प्रदेश से, तन से !
अमर प्रेम हो बंधन उसका
वह पवित्र हो मन से !
अंगों की अविकच इच्छाएँ
रहें न जीवन-पातक,
वे विकास में बनें सहायक
होवें प्रेम प्रकाशक !
क्षुधा-तृषा ही के समान
युग्मेच्छा प्रकृति प्रवर्तित,
कामेच्छा प्रेमेच्छा बनकर
हो जाती मनुजोचित !

नर-नारी के उच्चवर्गीय सस्कारों के प्रति उसका मन विद्रोह कर उठता है। लज्जा से अवगुंटिता नारी अंधकार युग का प्रतीक है। इस अवगुंठिता, सहज अपावन, हृदयभीरु नारी के प्रति कवि की कुन्ठा कम नहीं है, परन्तु 'आधुनिका' के प्रति कवि का क्षोभ और भी बढ़ा हुआ है। वह कहता है :

शिक्षित तुम संस्कृत, युग के सत्याभासों में पोषित,
समकक्षिणी नरों की तुम, निज द्वन्द्व मूल्य पर गर्वित !
नारी की सौन्दर्य-मधुरिमा औ' महिमा से मंडित,
तुम नारी-उर की विभूति से, हृदय सत्य से वञ्चित !
प्रेम, दया, सहृदयता, शील, क्षमा, पर दुख कातरता,
तुममें तप, संयम, सहिष्णुता नहीं त्याग, तत्परता !

लहरी सी तुम चपल लालसा श्वास-वायु से नर्तित,
तितली सी तुम फूल फूल पर मँडरातीं मधुक्षण हित,
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करतीं आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन-पद-मद, आत्म-प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ़ तुम नारी !

जिस तरह अवगुंठिता नारी काम-विकृति का चिन्ह है, उसी तरह यह आधुनिका। पंत ने अपने मन की नारी का आभास 'मज़दूरनी के प्रति' शीर्षक कविता में दिया है। यह नारी 'स्वीट पी' नहीं है जिसके लिए कवि कहे :

मृदुल मलय के स्नेह-स्पर्श से
होता तन में कम्पन,
जीवन के ऐश्वर्य-हर्ष से
करता उर नित नर्तन !
केवल हास-विलासमयी तुम
शोभा ही में शोभन,
प्रणय कुंज में सांझ-प्रात
करती हो गोपन कूजन !
जग से चिर अज्ञात,
तुम्हें बाँधे निकुंज-गृह-द्वार !
कुल-वधुओं सी अयि सलज्ज, सुकुमार !

यह नारी दूसरी ही है—

सर से आँचल खिसका है-धूल भरा जूड़ा,
अधखुला वक्ष, ढोतीं तुम सिर पर धर कूड़ा,

हँसती बतलातीं सहोदरा सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।
कुलवधू-सुलभ संरक्षणता से हो वंचित,
निज बंधन खो, तुमने स्वतन्त्रता की अर्जित !
स्त्री नहीं, आज मानवी बन गईं तुम निश्चित,
जिसके प्रिय अंगों को छू अनिलातप पुलकित !
निज द्वन्द-प्रतिष्ठा भूल जनों के बैठ साथ,
जो बँटा रहीं तुम काम-काज में मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार
जग के हित खोल दिये नारी के हृदय-द्वार !

केवल इस नारी की भव्य कल्पना के कारण ही पंत का यह नया काव्य अभी बहुत दिनों तक विस्फोटक बना रहेगा।

परन्तु इन इने-गिने विषयो के सम्बन्ध में ही कवि की प्रगतिशीलता देखने से काम नहीं चलेगा। पिछले चार-पाँच वर्षों में कवि ने जो कविताएं लिखी हैं, वे एक नई संस्कृति, एक नए जीवनदर्शन, एक नई विचारधारा का प्रवर्तन करने में समर्थ हैं। इन रचनाओं पर अलग-अलग विचार करते समय हमने इस विषय में कुछ विशेष कहा है। यहाँ हमें यही कहना है कि पंत के काव्य में हम उनके व्यक्तित्व की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति पा जाते हैं। आधुनिक हिन्दी कवियों मे से किसी ने न इतना सौन्दर्य हमें दिया, न भाषा और शैली के इतने क्रांतिकारी और सुष्ठ प्रयोग, न इतना उदात्त जीवन-दर्शन। हर्ष की बात है कि पंत हमारे बीच में क्रियाशील हैं—अभी उनका चिंतन ज़रा भी शिथिल नहीं हुआ, उनकी कल्पना अभी भी उर्वरा है। अभी उन्हे अपने जीवनदशन की रूपरेखाओं में नया रंग, नया उभार भरना है।

प्रारम्भ से ही पंत के काव्य में जीवन-मरण, सुख-दुख और मन के छाया-खेलों के प्रति आकर्षण मिलता है। ये मनुष्य की चिंता के कुछ

चिरन्तन विषय हैं। परन्तु 'पल्लव' की 'परिवर्तन' कविता (१९२४) के साथ कवि भावुक स्वप्नों को छोड़कर जीवन के यथार्थ में प्रवेश करता है। वह धीरे-धीरे जीवन-मरण, हानि-लाभ, सुख-दुख के बीच एक दार्शनिक संतुलन की स्थापना करता है। उसका हृदय एक सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भर जाता है और वह अलौकिक आनन्द से मुग्ध और विस्मित होकर मंगलाशी बन जाता है। वह प्रार्थी होता है—

**जग के उर्वर आँगन में**
**बरसो ज्योतिर्मय-जीवन**
**बरसो लघु-लघु तृण-तरु पर**
**हे चिर अव्यय, चिर नूतन !**

बाद में जीवन-मरण, सुख-दुख विषयक यह चिंता राजनैतिक और सामाजिक सामञ्जस्यों का रूप धारण कर लेती है। कवि गाधीवाद, मार्क्सवाद, अरविन्दवाद, औपनैषदिक रहस्यवाद और न जाने कितने तत्त्वचिंतनों को मानव के सार्वभौम सुख की तुला पर परखना चाहता है और एक नवीन जीवन-दर्शन की सृष्टि करता है जो नये युग को नया मन दे। उसका परवर्ती काव्य बुद्धिवाद से आक्रांत है। जहाँ 'युगांत' में उसने लिखा था—

**जीवन लोकोत्तर;**
**बढ़ती लहर बुद्धि से दुस्तर,**
**पार करो विश्वास-चरण धर !**

वहाँ बाद में वह जन-संस्कृति को संशय, क्रांति और विद्रोह की तलवार देकर एक नये सार्वभौम मानव-समाज की रचना का प्रयत्न करता है। वह कहता है :

**हो धरणि जनों की, जगत स्वप्न-जीवन का घर,**
**नव-मानव को दो, प्रभु, भव-मानवता का वर !**

इसमें सन्देह नहीं कि पंत का प्रारम्भिक काव्योन्मेष 'पल्लव' और 'गुंजन' पर समाप्त हो जाता है। 'गुंजन में कवि दार्शनिक के रूप में सामने आता है। वह सुख-दुख-पूर्ण इस जगत को आस्तिक के सारे विश्वासों के साथ स्वीकार कर लेता है। वह जगत उसे अपूर्ण लगता है परन्तु उसका ईश्वर-विश्वास उसे निराशा नही होने देता। वह आशा और मंगल के गीत गाता है। इस संग्रह में कवि की भावों और विचारो की पकड़ अभूतपूर्ण है और उसका सौन्दर्यवाद और आशावाद सिद्धांत नहीं बन पाया है। प्रकृति, नारी, दार्शनिक जिज्ञासा और जीवन के उल्लास को कवि ने अत्यन्त सुन्दरता से प्रकाशित किया है। कुछ आलोचकों की दृष्टि में पंत की काव्य-प्रतिभा के सब से सुन्दर दर्शन इसी संग्रह में होते हैं।

इसके बाद की रचनाओ में कवि धीरे-धीरे सिद्धांतवादी हो जाता है और क्रमशः मानववाद (स्वर्णधूलि) और उपचेतनवाद (स्वर्णकिरण) के गीत गाने लगता है। उसके काव्य में सिद्धांत-कथन और गद्य की प्रधानता हो जाती है और वह कवि न रह कर विचारक बन जाता है। काव्य में बुद्धितत्त्वों का समावेश वर्जनीय नहीं है, परन्तु यह समावेश काव्यतत्त्व की हत्या न करे। कवि पंत का परवर्ती काव्य सन्देशों की प्रधानता के कारण बुद्धि निष्ठ बन जाता है और काव्य के स्वाभाविक रस की हानि होती है।

काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से कदाचित् 'युगवाणी' पंत की सब से निर्बल रचना है। 'युगवाणी' में कोरा सिद्धांतवाद ही काव्य के रूप में उपस्थित कर दिया गया है। इसलिए कवि ने उसे 'गीतगद्य' कहा है। कवि गाँधी और मार्क्स के बीच में अपना एक स्वतंत्र मार्ग निकालता है। गाँधीवाद और मार्क्सवाद दोनों अपूर्ण हैं। मार्क्स ने मनुष्य के वहिर्जीवन के लिए साम्यवाद की योजना की है, गाँधी मनुष्य के चेतन को जाग्रत करते है। मार्क्स तन का पोषण करता है तो गाँधी मन और आत्मा को जड भूतों से ऊपर उठा कर स्वतंत्र और चेतन बनाते हैं। मानव न केवल तन है, न केवल मन और आत्मा। इसी से पंत ने अपने जीवन-दर्शन में तन और

मन दोनों के लिए योजना की है। मार्क्स की हिंसा और गाँधी की अहिंसा दोनों ही साधन के रूप में उसे स्वीकार हैं। शर्त केवल यह है कि वे प्रगति के माध्यम मे बन सकें। 'ग्राम्या' में पंत ने 'युगवाणी' के सिद्धांतवाद को काव्य और कला का रूप देना चाहा है। इस संग्रह में हम कवि को देश की सारी प्रगति-विरोधी शक्तियों से मोर्चा लेते पाते हैं। व्यंग, परिहास, कटु सूक्तियो और स्पष्टवादिता से भरी इस संग्रह की कवितायें पंत को जीवन के क्षेत्र में खींच लाती हैं। यहाँ हम कवि को नारी-पुरुष के अप्राकृतिक जीवन, आधुनिक सभ्यता और ग्रामीण जीवन की विडम्बनाओं के प्रति खड्ग-हस्त पाते हैं। उदाहरण के लिए, 'स्वीट पी के प्रति' कविता में वह उच्चवर्गीय नारी की हँसी उड़ाता है—

**कुल बधुओं-की अयि सलज्ज, सुकुमार !**
**शयनकक्ष, दर्शन - गृह की शृंगार !**
**उपवन के यत्नों से पोषित,**
**पुष्प-पात्र में शोभित, रक्षित,**
**कुम्हला जाती हो तुम निज शोभा ही के भार !**
**कुल-बधुओं सी अयि सलज्ज, सुकुमार !**
**सुभग रेशमी वसन तुम्हारे**
**सुरँग सुरुचि-मय—**
**अपलक रहते लोचन !**
**फूट-फूट अंगों से सारे,**
**सौरभ अतिशय**
**पुलकित कर देतीं मन !**

आधुनिका के रूप में भी नारी उसे स्वीकार नहीं है। यह आधुनिक नारी पश्चिमी साज - सज्जा से अलंकृत है, परन्तु उसमें विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक नारी के सहज गुण-प्रेम, दया, सहृदयता,

शील, क्षमा, पर-दुःख कातरता, तप, सयम, सहिष्णुता, त्याग और तत्परता नहीं है । केवल रूप, केवल विलास, केवल इन्द्रिय-लिप्सा—यही आधुनिका है । यह मधु-ग्राही नारी पुरुष को प्रगतिपथ से नीचे की ओर ढकेल रही है । कवि स्वस्थ, निश्छल सामाजिक वृत्ति के रूप में ही नर-नारी के प्रेम को स्वीकार करता है । वह पूछता है—

**क्या क्षुधा-तृषा औ' स्वप्न-जागरण-सा सुन्दर**
**है नहीं काम भी नैसर्गिक जीवन-द्योतक !**

नर-नारी के इस प्रकृत सम्बन्ध को केन्द्र बनाता हुआ कवि एक सार्वभौमिक सस्कृति की कल्पना करता है । वह नई संस्कृति एकदेशीय, एकजातीय नहीं होगी । पत ने इसे भव-संस्कृति और भू-संस्कृति कहा है । इस नई संस्कृति में धन-भेद नही रहेगा, शासक-शासित नहीं रहेगे, जनों और नागरिकों में भेद-भाव नहीं होगा । प्राचीन धर्म-कर्म के रूढ़ि-बनधन इसे अमान्य रहेंगे । गत सस्कृतियों में जो भी असुन्दर, असत्य और अशिव होगा, उसका सहार इस संस्कृति का काम होगा । यह सार्वभौम संस्कृति देश, काल और प्रकृति को जीतकर पृथ्वी पर मानव की विजय घोषित करेगी, किसी एक देश और एक जाति के मानव की नहीं, अखिल देशों और अखिल जातियों के मानव को । इस नई विश्वसंस्कृति में मनुष्य आकाश की ओर नहीं देखेगा । आकाश के देवी-देवताओं ने कई हजार वर्ष से मनुष्य को कल्पना-जड़ित कर रखा है । मनुष्य आकाशकल्पी बन गया है । वह सत्य से पराङ्मुख हो गया है । अपने ही कल्पित आदर्शों और स्वप्नों का बन्दी मानव आज कुंठित है ! इसीसे आज फिर धरती का जादू जगाना होगा । वह भू की ओर देखेगा । कवि का सदेश है—

**देखो भू को !**
**जीव प्रसू को !**
**हरित-भरित**
**पल्लव-मर्मरित**
**कूजित-गुंजित**

कुसुमित
भू को
कोमल चञ्चल शाद्वल अंचल,
कलकल छलछल चल-जल निर्मल,
कुसुम-खचित मारुत-सुरभित
खग कुल कूजित प्रिय पशु मुखरित
जिस पर अंकित सुर-मुनि वंदित
मानव-पदतल !

देखो भू को
स्वर्गिक भू को,
मानव पुण्य-प्रसू को !

भू-प्रसू मानव जड़ पशु नहीं है। वह पशु-प्रिय निद्रा, भय, मैथुनाहार से ऊपर उठकर दैवी आलोक की ओर बढ़ता है। यही उसका मानवत्व है। मानव का यह ईश्वरत्व कवि का महत्वपूर्ण युग-सन्देश है।

'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में कवि ने अपने दृष्टिकोण मे थोडा सा परिवर्तन किया है। एक विराट भू-संस्कृति और एक व्यापक भू-जीवन का वह अब भी विश्वासी है, परन्तु अब उसमें अध्यात्म के स्वर अधिक मुखर हो उठे हैं। वह उपनिषदो के ऋषियो की भाँति आत्मदर्शी बन गया है। उसका विश्वास है कि वह एक विराट चेतना का अंश है। यह चेतना कहीं जाग्रत है, कहीं सोई है। जहाँ सोई हुई है, वहाँ उसे जगाना होगा। इस दृष्टि से नई संस्कृति का निर्माण व्यक्ति के पुनर्संगठन का प्रश्न बन जाता है। कवि कहता है—

फिर श्रद्धा-विश्वास-प्रेम से
मानव-अन्तर हो अन्तःस्मित,
संयम-तप की सुन्दरता से
जग-जीवन-शतदल दिक् प्रहसित !

व्यक्ति-विश्व की व्यापक समता
हो जन के भीतर से स्थापित,
मानव के देवत्व से ग्रथित
जन समाज-जीवन हो निर्मित !
करें आत्म-निर्माण लोक-गण
आत्मोज्ज्वल भू-मंगल के हित,
बहिरंतर जड़-चेतन-वैभव
संस्कृति के कर निखिल समन्वित !
सहृदयता का सागर हो मन
हृदय-शिला हो प्रेरणा-सरित,
भू-जीवन के प्रति रुचि जन में,
मानव के प्रति मानव प्रेरित !

मध्ययुग के संतों और वैष्णव भक्तों ने जो आत्म-संस्कार की आवाज़ उठाई थी, वह पंत की इस आवाज़ से भिन्न नहीं है। केवल आज व्यक्ति का आत्म-परिष्कार सारे समाज की मुक्ति का आयोजन नहीं है। व्यक्ति जहाँ समाज, राष्ट्र या विश्व की इकाई बन जाता है, वहाँ उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति समष्टि में गुंफित हो जाती है। आत्म-परिष्कार और आत्म-दर्शन पर यह बल कवि के परवर्ती काव्य में एक नये रहस्य-दर्शन की सृष्टि करता है और उसका 'ग्राम्या' का भू-संस्कृति का सपना अपने वैज्ञानिक और ऐतिहासिक धरातल से नीचे उतरकर अध्यात्म की वृन्दावनीय गलियों में क्रीड़ा करने लगता है। पता नहीं, पंत मार्क्स और गांधी, उपनिषद और विज्ञान, भूतवाद और अध्यात्मवाद में समन्वय स्थापित करने में कहाँ तक सफल होंगे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका काव्य नए मूल्यों का सृजन कर रहा है और नये तत्वों के अन्वेषण, विश्लेषण और आश्लेषण में लगा है।

संक्षेप में, कवि के काव्य के आभ्यंतर का यह इतिहास है। आधुनिक काव्य में भावों और विचारों की इतनी व्यापक भूमि कदाचित् कहीं नही मिलेगी। परन्तु पंत को सबसे बड़ा श्रेय यह मिलना चाहिए कि अपने काव्य में उन्होंने कविता के वाह्यांग को बड़े परिश्रम से सँवारा और उनके प्रयत्न से खड़ी बोली की हिन्दी कविता द्विवेदी युग की सीधी-सादी गद्यात्मक, कवित्व-हीन कविता की श्रेणी से बहुत ऊपर उठ कर वहाँ पहुँच गई जहाँ भाषा, भाव और कला की सारी माधुरी से उसके प्राणो का सिंचन होता है। १९१५ ई० के आस-पास कुछ नये तरुणो ने खड़ी बोली की कविता के क्षेत्र में पदार्पण किया। ये तरुण कवि अँग्रेजी के रोमांटिक कवियों के काव्य से प्रभावित थे। उसे ही वह काव्य कहते। अन्य सब उनके लिए गद्य था। कवियों ने अंग्रेजी ढंग पर हिन्दी शब्दावली का प्रयोग करना आरम्भ किया। पहले कवियो का ध्यान भाषा की ओर अधिक था, अब वे भाव-व्यंजना की ओर मुडे, परन्तु नई भाव-व्यजना की अभिवृद्धि के लिए उन्हे नये ढंग पर भाषा का संस्कार भी करना पड़ा। १९१४ ई० से १९१८ ई० तक स्वानुभूति-मूलक और व्यक्तित्व-प्रधान कितने ही गीतों की रचना हुई। उसी समय पंत, निराला और प्रसाद ने काव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया।

पंत का प्रारम्भिक काव्य १९१४ ई० के लगभग ही शुरू होता है परन्तु १९१८ ई० से पहले की लिखी उनकी कविताएे बहुत कम हैं और साहित्य की दृष्टि से उनका बहुत महत्व नहीं है। १९१८ ई० से १९२४ ई० तक की रचनायें 'पल्लव' में संग्रहीत हैं। 'पल्लव' की भूमिका से पता चलता है कि कवि इन कविताओं को प्रयोग रूप मे देख रहा है और भाषाशैली और छंद मे उसने महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। पत ने पहली बार काव्य की भाषा के सम्बन्ध में निश्चित सिद्धान्तों को सामने रखा और अपने निश्चित प्रयोगों द्वारा एक निश्चित काव्य-संस्कृति और उसके वाह्य-सौन्दर्य पर बल दिया और इन गुणों को काव्य का प्रधान अंग नाना। उन्होंने कहा—'युग के नवीन संस्कारों के साथ भाषा-सम्बन्धी संस्कार भी बदल जाते हैं। प्राचीन

परम्परा के उपासकों ने 'ब्रजभाषा की अपभ्रंश-प्रवृत्ति अति सीमा तक पहुँचा दी है। उसके शब्दों की इतनी विकृति हो गई है, कि उनको लेकर हम नये युग की संस्कृति को कोई रूप नहीं दे सकते। वह तत्सम शब्दों के प्रयोगों की ओर झुके। इस प्रकार उन्होंने संस्कृत शब्द-कोष को हिन्दी की सम्पत्ति बना दिया। पिछले ४००–५०० वर्षों की अपभ्रंश-परम्परा को इस तरह एकदम तिलांजलि दे देना बहुत साहस का काम था, परन्तु पंत में सद्-कवियो का साहस कम नहीं था।

परन्तु संस्कृत शब्दकोष को हिन्दी काव्य की सम्पत्ति बनाकर पंत ने अपने कवि-कर्तव्य की इति नहीं समझ ली। संस्कृत के कई शब्द पंत को मान्य नहीं थे। वे उन्हीं शब्दों को लाना चाहते थे, जो हिन्दी कविता की नई संस्कृति गढ़ने में काम आ सकते थे। रागात्मकता के सहारे उन्होंने काव्योपयोगी शब्दों को छाँटा और उन्हे अपने प्रयोग से सुचारु बनाया।

शब्दों के बाद नवीन प्रयोग की बात आतो है। इसका सम्बन्ध अलकारो के प्रयोग से है। ब्रजभाषा काव्य में अलंकारो का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है, परन्तु इस तरह का प्रयोग पंत को पसन्द नहीं। ब्रजभाषा काव्य के अलंकारो के प्रयोग को उन्होंने अनुप्रासों की अराजकता और अलंकारों का व्यभिचार कहा। परन्तु वे अलंकारों के विरोधी नहीं हैं। 'पल्लव' के सौन्दर्य का एक बड़ा कारण श्रुत्यानुप्रासों का प्रयोग है। पंत ने उन्हें बाणी के हास, अश्रु, पुलक, हाव-भाव कहा है। परन्तु कवि अलंकारो को महत्ता देता हुआ भी उन्हें सर्वोपरि नही रखता।

पंत हिन्दी कविता के लिए मात्रिक छदो का प्रयोग ही स्वाभाविक मानते है। वर्णवृत्तों में हिन्दी की काव्य-प्रकृति सुरक्षित नहीं है, ऐसा उनका विश्वास है। वह सवैये और कवित्त को भी हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध समझते हैं। कवि का कहना है कि हिन्दी के वर्ण-संगीत की रक्षा मात्रिक छन्दों में ही हो सकती है, वर्ण-वृत्तो में नहीं। रोला, मालिनी, पीयूषवर्षण, रूपमाला, प्लवंगम, राधिका, अरिल्ल उन्हे विशेष प्रिय हैं। वह इनमें से

से प्रत्येक छद का सम्बन्ध किसी न किसी रस से जोड़ते हैं। यह भी उनकी भावुकता ही है परन्तु इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत के काव्य में आधुनिक काव्य के वाह्य उपकरणों का इतना परिवर्तन हो गया है कि वह स्वतः एक अलग श्रेणी बन गया है। भाषा, पदावली छद, शैली सभी क्षेत्रो मे यह परिवर्तन आधुनिक काव्य को विशिष्टता देने में समर्थ हुआ है इसमें सन्देह नहीं।

यह स्पष्ट है कि पन्त में भावुकता की मात्रा विशेष नहीं है। वह मूलतः कल्पना और विचारों के कवि हैं। इसीसे उनकी रचनाओं में काव्योन्मेष अधिक नहीं मिलता। उनके काव्य में प्रकृति के सुन्दर रूपों की आह्लाद-मयी अनुभूति मिलेगी। उनके चित्र कल्पना को उत्तेजित करेंगे। वे प्रकृति के व्यापारों के द्वारा मानसिक व्यापारो की रमणीय व्यजना भी करने में समर्थ होंगे। परन्तु यह सब बहुत कुछ तटस्थ रह कर। परन्तु उनके काव्य का कलापक्ष अत्यन्त पुष्ट है—कदाचित् प्रसाद और निराला के काव्य से भी अधिक। उन्होंने भावों के अनुसार भाषा को सँवारा है और छंदों को नये-नये कलात्मक रूप दिये है। वह इस युग के सबसे बड़े शब्दशिल्पी हैं। छन्दों की काट-छाँट के सम्बन्ध मे उनका अपना दृष्टिकोण है। उनके काव्य में जहाँ पुरानी रीतिकालीन पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं, वहाँ नई काव्य-रीति का भव्य भवन भी दिखलाई पड़ता है। चित्रमयी भाषा, नवीन अप्रस्तुत विधान, लाक्षणिक वैचित्र्य और नवीन छन्दो के कारण उनके काव्य का अपना निजी व्यक्तित्व प्रस्फुटित हो सका है। भावना की दृष्टि से वह शुद्ध रहस्यवादी और प्रकृति के उन्मुक्त रूप पर मुग्ध हैं। परन्तु प्रसाद और महादेवी वर्मा की भाँति उनमें साम्प्रदायिक रहस्यवाद नहीं मिलता। उनकी साधना मूलतः सौन्दर्यवादी कवि की साधना है जो कला की भाँति ही जीवन में भी सत्य, शिव और सुन्दर की स्थापना करना चाहता है।

—— ——